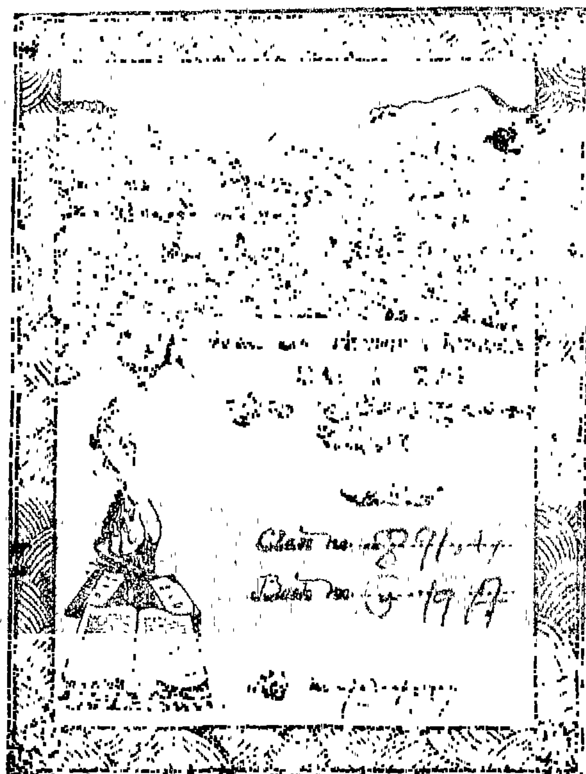


आधुनिक कथा-साहित्य

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय, एम० ए०

प्रमोद पुस्तक-माला की बीसवीं पुस्तक

प्रकाशक—

पं० करुणाशंकर शुक्ल

प्रमोद पुस्तकमाला, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

प्रथम बार ११००

सं० २००१

मूल्य २)

मुद्रक—

पं० करुणाशंकर शुक्ल

प्रमोद प्रेस, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

विषय क्रम

—:०:—

स्पष्टीकरण

इस पुस्तक की भूमिका स्वरूप एक कहानी कहने के सिवाय और मुझे कुछ नहीं कहना। कहानी यह है—बुद्ध भगवान ने अपने सारे वैभव को त्यागकर एक भिक्षु का जीवन ग्रहण किया था। अपने अंतिम दिनों में वे अपने शिष्य भिक्षुओं द्वारा उपार्जित भिक्षा से जीवन यापन करते थे। एक बार उनके एक शिष्य ने लाकर उन्हें एक बहुत फटी लटी चीकट-सी साड़ी दी, तथागत ने पूछा—यह किसका दान है। शिष्य ने बताया कि एक अनाथ स्त्री जिसके पास और कुछ नहीं था मेरे कुछ मांगने पर वह अपनी एक मात्र साड़ी दे कर अपनी लाज रक्षा के लिए एक पेड़ की ओट में खड़ी हो गई थी। बुद्ध भगवान ने कुछ क्षण मौन होकर कहा—यही दान सबसे महान है। हीरा, मोती और बहुत-सा वैभव देने वाले व्यक्ति उस अनाथा की समता नहीं कर सकते। उसका दान और त्याग बहुत ही उत्तम है। किन्तु उसका जीवन बहुत अकिंचन है अतएव उसकी देन एक ओर उसको निरावरण कर देती है दूसरी ओर पाने वालों के हृदय में तृप्ति के साथ क्षोभ का भी संचार करती है। जीवन में कार्य की सुचारुता के लिए आत्मा की लाज और परोपकार की वेदनाग्राहिणी प्रवृत्ति दोनों की रक्षा होनी चाहिए। यही हाल हमारे साहित्य का है। विचारों, भावों और कल्पनाओं की उसमें कमी नहीं किन्तु उसका जीवन अत्यन्त खोखला और बुभुक्षित है। कारण यह है कि हमारा सम्पूर्ण राष्ट्र विशेष कर साहित्यिक भारत बहुत पीड़ित और उदास है, वह जीना नहीं धारिता है। जीवन व्यापी विपुलता के कारण वह पग-पग पर पराजित सा अनुभव करता है, उसके साहित्य में भी उसी आशंका का आभास अनिवार्य हो उठता है। सामूहिक मानव के भोजन

वस्त्र और निवास की समस्या के समाधान के बिना उच्च स्तर के साहित्य और कला के सृजन की सम्भावना नहीं रहती, यदि सृजन हुवा भी तो वह शक्ति, सौष्ठव और सांस्कृतिक चेतना से दूर कुछ इधर उधर की खींच-तान से संयोजित और अनगढ़ सा होता है। सम्भवतः यही कारण है कि कला और साहित्य पर विचार करने के लिये उसके निर्माण-युग की परिस्थितियों की जानकारी आवश्यक और अनिवार्य है, अन्यथा उस साहित्य का विवेचन अधूरा और अविश्वसनीय ही रहेगा। परिस्थितियों के अध्ययन में यह स्मरण रखना चाहिए कि वे केवल आर्थिक या राजनीतिक अथवा सामाजिक ही नहीं होती। अन्य अनेक समस्यायें, यहां तक कि व्यक्ति की अपनी इच्छायें-आकांक्षायें भी अपना प्रभाव और महत्व रखती हैं। इन सब के सम्मिलित स्वरूप से ही मानव का इतिहास पूर्ण होता है। अतएव साहित्य से जीवन की किसी स्थिति का निर्वासन नहीं किया जा सकता, जो कुछ जीवन में सम्भव है सभी साहित्य का शृंगार हो सकता है। विलास और वैभव के सम्पन्न स्वर की साहित्य को उतनी ही अपेक्षा है जितनी शोषित और पीड़ित आकुल क्रन्दन की। क्योंकि साहित्य में आध्यात्म और भौतिकता, सूक्ष्म और स्थूल, आदर्श और यथार्थ, सौन्दर्य और कुरूपता सभी का सहज समन्वय और कलात्मक संगठन हो जाता है। तभी साहित्य में जीवन का केवल कोई विशेष पहलू ही सामने नहीं आता, उसमें जीवन की समग्रता की संस्थापना रहती है। दुर्बल त्याग, स्वयं अपना पुरस्कार बन जाता है, उससे जीवन की शक्ति और निष्ठा की अपेक्षा जीवन की दुर्बलता का ही विस्तार होता है।

विश्व की नवीन [illegible] की सुविधा एवं मानवीय मूल भावना की [illegible] साहित्य में भी स्थान पाया है। आज का साहित्यिक केवल कल्पना लोक में नहीं विचरण करता वरन्

वह अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविकताओं के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता है। स्वभावतः साहित्य और समाज के बीच का कृत्रिम व्यवधान दिन प्रतिदिन क्षीण पड़ता जाता है और लोग अब साहित्य का सामाजिक मूल्य भी देखने लगे हैं। आज का सामान्य मानव भी यह समझ गया है कि साहित्य वह पारदर्शी पदार्थ है जिसमें समाज की छाया पड़ती है, साहित्य राष्ट्र का वह परिधान है जो जीवन जगत और जनता के सुख-दुख के विरल सूतों से बुना गया है, साहित्य समाज का वह स्वरूप है जहां अनेकानेक व्यक्तियों, वर्गों और सिद्धांतों तथा भावनाओं के उत्थान पतन एवं विकास विनाश का संकेत और संदेश सुरक्षित रहता है। तब भला साहित्य की सामाजिकता की उपेक्षा करके उसका सृजन कैसे सम्भव हो सकता है। विश्व-जीवन की इस स्थिति में हमें उस साहित्य की आवश्यकता है जो हमारी मृतक धमनियों में फिर से नवीन उष्ण रक्त और अभिनव जीवन का संचार कर दे, हम उस साहित्य का स्वागत करते हैं जो हमारी सामाजिक विषमता और राजनीतिक दासता की कालिमा को अपनी स्नेह स्वच्छ धारा से धो दे और मानवता की मर्मान्तक व्याधियों का विनाश कर दे। आज भारत अपने साहित्याकाश में उस ज्योति का उदय देखना चाहता है जो अपने पावन प्रकाश की शक्तिमत्ता से मानव की पाशविक प्रवृत्तियों की आंख में चकाचौंध पैदा करके उसे सामाजिक जीवन के प्रति एक ममता दे, समानता का सन्देश दे और दे मातृभूमि के उद्धार की संघर्ष प्रस्फुटित शक्ति। साहित्य के इस उपर्युक्त उद्देश्य को लेकर आज प्रत्येक समझदार व्यक्ति के सामने साहित्य सम्बन्धी कुछ प्रश्न स्वभावतः उपस्थित हो जाते हैं। हमारे साहित्यिकों, कलाकारों तथा समालोचकों का, जोकि राष्ट्र के मस्तिष्क और दृष्टि स्वरूप हैं, आज की इस विकट स्थिति में क्या कर्तव्य है? किसी भी समस्या या प्रश्न के उत्तर की खोज अनुभव और बौद्धिक

निरीक्षण के आधार पर होनी चाहिए, तभी कोई भी समाधान प्रयोग और सक्रियता की व्यावहारिक कसौटी पर खरा उतर सकता है अन्यथा नहीं। आज का विपन्न युग अपनी आवेग आकुलता में अपने अतीत के प्रति एकदम उदासीन सा होता जा रहा है किन्तु मानवीय विकास के लिये यह ठीक नहीं है। अतीत की त्रुटियों और विफलताओं तथा विवशताओं की पीठिका पर ही वर्तमान का निर्माण होता है। धनुष पर चढ़ा बाण जितना ही अधिक पीछे खींचा जावेगा उतना ही अधिक गतिशील होकर वह लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा। इसी प्रकार युग साहित्य भी अपने अतीत की सीमा रेखा से ही अपनी गति की व्यवस्था करता है।

मनुष्य का निर्माण एक समाज विशेष और एक स्थिति विशेष में होता है, उसकी कला की प्रेरणा भी उसी से प्रभावित होती है। जिस युग का जीवन, जिन सुख-दुख की विषम परिस्थितियों के विषम घात-प्रतिघात से विकसित होता है, उस युग का कलाकार अपने को उस व्यापक संघर्ष से अलग नहीं रख सकता, और यदि ऐसा करे तो वह कलाकार नहीं एक विदूषक मात्र है। अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं की मुखरता और सामान्यता का सुझाव और समाधान उसकी कला में अवश्य ही प्रभासित होना चाहिए। कुछ लोगों की धारणा है कि साहित्यिक तो समाज, और राजनीति की परिस्थितियों से परे, एक देव-दूत की भांति अपनी साहित्य-सृष्टि करता है, और इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि साहित्यिक को सैद्धान्तिक, और क्रियात्मक दोनों ही रूपों से, समाज के साथ चलने की चेष्टा करनी चाहिए। दोनों दृष्टिकोण सत्य का आंशिक-आधार रखते हुये भी, पूर्णतः ठीक नहीं हैं। साहित्य तो यथार्थ की उद्देश्यमय कलात्मक-अभिव्यक्ति है, वह न तो समाज की प्रतिलिपि है, न व्यक्ति (साहित्यकार) की कोरी कल्पना। वह

दोनों का सापेक्ष-सामञ्जस्य है। बिना सामञ्जस्य के इस आधार के, कोई भी साहित्यिक-कृति सफल नहीं हो सकती, यह निश्चय है। युग-धर्म के साथ, पूर्णतया सहयोग करते हुए, भारतीय-साहित्य के अमर-कलाकारों ने समग्रता को कितनी सफलता से अपनाया है, इसका विचार यहाँ किया जावेगा।

विवेचनात्मक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि भारतीय-साहित्य, सदैव सामाजिक-विकास का सजीव-चित्र रहा है। आदि-काल में आर्य लोग छोटे-छोटे समूहों में सरिताओं के तट पर, मुक्त-गगन के नीचे, प्रकृति के बीच में रहते थे। उस समय जीवन के उपादान, चाहे इतने संघर्षमय न रहे हों पर बहुत सहज प्राप्त नहीं थे। लोगों को अधिकतर प्रकृति की देन पर ही निर्भर रहना पड़ता था। स्वभावतः उन्होंने उषा, संध्या, चाँदनी, और बादल के भिन्न-भिन्न रूपों का आस्थामय चित्रण किया, और उसी में अपनी चिन्तना, तथा भावुकता की तृप्ति पाई। कभी-कभी बन-जीवों, तथा अनार्यों (राक्षसों) के संघर्ष का भी समय आता था, उसका भी चित्रण वेदों में है। वेदकारों के इन प्रत्यक्ष-चित्रणों के साथ, उनका अप्रत्यक्ष-सूक्ष्म भी दूध में पानी की भाँति मिला है। बादल को वे केवल प्राकृतिक-परिणाम ही नहीं मानते, वरन् वे उसमें एक चेतन-व्यक्तित्व का भी आरोप करते हैं:—

सुजातासो जनुषा रूक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे

ऋ० ५--५७--४

(कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्मय-वक्षवाले, इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है)

इसका केवल कारण यह है कि स्थूल-आवश्यक सत्ता में, सूक्ष्म-सौन्दर्य का दर्शन, मनुष्य की मनुष्यता का प्रमाण है। जीवन की व्यापकता में, स्थूल और सूक्ष्म का सम्मेलन, मनुष्य में मनुष्यता की

भाति ही निश्चित है। इसलिए मनुष्य को पूर्ण मानव बनने के लिए, प्रत्यक्ष-सत्य, और इच्छित-भावनात्मक-सत्य का समन्वय करना आवश्यक है। धीरे-धीरे आर्यों में सामाजिक-जीवन का उदय हुआ, और वे निवास बनाना सीख गए। सामाजिक कारणों का भी ज्ञान प्राप्त किया, और एक व्यवस्थित-समाज में रहने लगे। गृह सूत्रों में इस बात के प्रचुर-प्रमाण मिलते हैं। समाज की व्यवस्था के पश्चात्, उसकी गतिशीलता और सुचारुता संचालन के लिए, सामाजिक विधि-विधान बने। इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते मानव में बुद्धि का विकास बढ़ गया, और वह भावना की अपेक्षा चिंतना परिचालित होने लगा।

साधारणतया मनुष्य, मानसिक-वृत्तियों के दृष्टिकोण से दो श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं, बुद्धिप्रधान और हृदयप्रधान, बुद्धि के लिए भौतिकता सर्व-प्रथम आवश्यक है, और हृदय के लिए भावात्मक-सत्तायें, जिनके आधार पर वह अपनी मानसिक भावनाओं का संसार में अवतीर्ण करना चाहता है। बुद्धि के विकास के साथ, सामाजिक-व्यवस्था संभालने के लिए, मनुष्य के बीच में राजा का आविर्भाव हुआ। इस धूमकेतु के साथ ही, बुद्धि के ज्ञान पर इच्छा ने, अधिकार का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप जो उत्पात शुरू हुए, वह किसी से छिपे नहीं हैं। आदि-काव्य रामायण, जीवन की सारी समग्रता के साथ, इस बात का साहित्यिक-साक्षी है। भारतीय सामाजिक-जीवन का यही बुद्धि-प्रसार था। चूँकि बुद्धि में आस्था का स्थान नहीं होता, इसलिए असंतोष ही उसका निश्चित परिणाम होता है। किन्तु इस बौद्धिक-आवेश की उपेक्षा से, कभी हृदय अपना सत्ता नहीं खोता। महाभारत के भीषण रक्तपात में, बुद्धि तथा आस्था का ही द्वन्द्व-युद्ध परिलक्षित है, जिसमें निश्चय ही आस्था अपराजित रही। मानव-जीवन के उषाकाल से ही, ऐसी विचार-धाराओं का संघर्ष होता चला आया है, और शायद जीवन की अनन्त-व्यापकता का यही सब से बड़ा

प्रमाण है। बुद्धि, और हृदय की समन्वयात्मक-प्रवृत्ति ही, मानव, और पशु के बीच में विभाजक रेखा है, क्योंकि मानव की सृष्टि, कहीं स्वतंत्र रूप से दुनिया के बाहर नहीं हुई, बल्कि वह पशुओं की एक विशेष श्रेणी का ही विकसित-रूप है। मानव की वह प्रवृत्ति, या प्रतिभा, जो उसे निरन्तर अपनी प्रत्यक्ष-स्थूल-पार्थिव-परिस्थिति से ऊपर उठा कर, अप्रत्यक्ष-काल्पनिक-सूक्ष्म-विकास की ओर ले जाती है, उसकी श्रेष्ठता का मूल-कारण है। यह विचार-पद्धति, यह विकास-शीलता, यह बुद्धिवृत्ति, केवल मानव में ही नहीं होती, अन्य दुग्धपायी जीवों में भी ये गुण पाये जाते हैं, किन्तु मानवों की भांति-कलात्मकता का उनमें अभाव होता है, इसीलिए वे मनुष्य से नीची-श्रेणी के जीव माने जाते हैं।

तो, कला मनुष्य के मनुष्यता की सब से पहली शपथ है। रूस के आधुनिक थियेटर-घरों के सामने, बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा ध्येय यहाँ उल्लेख करने लायक है 'बिना काम के जीना डकैती है, और बिना कला के काम करना शठता तथा पशुता है'। कला मनुष्य जीवन की साधना है, साधन नहीं। यही कारण है कि अन्य जीवों की कृतियों में [illegible] के दर्शन नहीं होते, वह उनके लिए साधन-मात्र बन कर रह जाती है। बहुत से ऐसे जानवर हैं, जिनकी खोहें बहुत ही सुन्दर होती हैं; बहुत से ऐसे पक्षी हैं, जिनकी नीड़-रचना में आश्चर्य-जनक कार्य-कुशलता का पता चलता है, किन्तु वे जीवन-यापन की आकुल-आवश्यकता के ही आविष्कार हैं, कला-कृतियाँ नहीं। क्योंकि वे उन जीवों की साधना नहीं, साधन हैं। कला की प्रवृत्ति, या प्रेरणा, मनुष्य के स्वाभाविक-सौंदर्य-बोध का फल है, जीवन-यापन की क्रियाशीलता का नहीं। पशु, अपनी आवश्यक खाद्य-सामग्री किसी भी स्थान, तथा पात्र में पाकर, पुलकित

हो उठेगा, किन्तु मनुष्य उस आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ, सुरुचि और सौन्दर्य का भी सम्मान करेगा, उसकी कामना करेगा।

इन्हीं कारणों से मानव-इतिहास का आदि उसकी कला कृतियों के प्रारंभ से ही माना जाता है। कला केवल आवश्यकता नहीं, उससे कुछ अधिक का परिज्ञान है, वह हृदय का आधिक्य है, अंतर का वैभव है, आत्मा की सत्ता का प्रतीक है। आदि मानव अपनी आवश्यकताओं के लिए प्रकृति की बाह्य-दासता स्वीकार करते हुए भी, अपनी आन्तरिक-सम्पन्नता का परिचय, कला-कृतियों से देता आया है, और अन्त में उसने प्रकृति पर विजय भी पाई है। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन में आवश्यकता प्रधान-तत्व है, कला गौण, पर मनुष्य जैसे बिना भोजन के नहीं जी सकता, उसी प्रकार बिना कला के भी नहीं रह सकता, इसे स्वीकार ही करना पड़ेगा। मानव इतिहास के सभी समयों में उसकी कला प्रियता बराबर उसके साथ रही है, और रहेगी।

हाँ तो, महाभारत-युद्ध का सबसे बड़ा महा-प्रमाण बुद्ध-धर्म है, महामैत्री, महाकरुणा। सारा बुद्ध-साहित्य इन्हीं तत्वों से भरा पड़ा है। इसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न हिन्दू-धर्मोत्थान, जिस मार-काट का सूत्रपात करता है, उसे हम भारतीय भली भाँति जानते हैं। यहाँ से हम आपस की फूट का स्वाभाविक फल, देश को दासता मिलती है। मुसलमानों का आक्रमण, नर संहार, देश की संस्कृति, साहित्य और सुन्दर-प्रवृत्तियों का विनाश, और उसी का फल है, लगभग आज तक की भय, आशंका, ग्लानि, गरीबी और हीन-मनोवृत्ति। इस प्रकार की पराजित-ग्लानि, सदैव निराशा, और उदासी की आकुलता में ईश्वर शरण की ओर उन्मुख होती है। भक्ति, तथा अतीत-स्मृतियों में रमने का परिणाम, आलस और अकर्मण्यता होता है, जिसकी चरम-परिणति हमारे साहित्य का रीतिकाल है। इन तथ्यों को हम इतिहास से

अधिक, अपने साहित्य के द्वारा जानते हैं। साहित्य-सृष्टि एक सामाजिक-मानव की कृति है, वह जीवन, तथा परिस्थितियों से दूर कहीं आकाश की नीलिमा-मयी-नीहारिका में नहीं पनप सकती, यह निर्विवाद है। जिस समय समन्वय के सार्वभौम-सिद्धान्त को छोड़कर साहित्य किसी एक प्रवृति विशेष की ओर अग्रसर होता है, उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है। सहसा रीतिकालीन-समाज, और साहित्य की सूक्ष्म-आत्मिक, तथा हार्दिक-वृत्तियाँ विद्रोह कर उठीं, और सहज-स्वाभाविक मानवीय-प्रवृत्तियों का पुनरुत्थान हुआ। देश में जागरण की लहर दौड़ पड़ी, जीवन की सुचारुता, और सामञ्जस्य के संदेश सुनाई पड़ने लगे, और बुद्धि तथा हृदय के समुचित-संतुलन की मांग होने लगी। यही हमारे साहित्य का आधुनिक युग है। युग के प्रकाशन, तथा अन्य वैज्ञानिक-साधनों ने इसमें सहयोग दिया, और जीवन के उपयोगी-तत्वों का प्रचार, तथा प्रसार होने लगा। आधुनिक-साहित्य की विवेचना से, इसकी परीक्षा हो सकती है। साहित्य में युग परिवर्तन और जागरण की सूचना देने वालों में, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द प्रमुख हैं। भारतीय जीवन के जिस विकास-विशेष की सूचना हमें इन कलाकारों की कृतियों से मिलती है, वह हमारी आँखों में नूतन-प्रकाश भरने की सफल चेष्टा है। आधुनिक साहित्य, इन्हीं प्रयासों, साधनाओं का सुफल है, जिसमें जीवन, जनता, और जगत का संतुलित सामञ्जस्य है। भारतीय-साहित्य-गरिमा जो कभी देवदासी, कभी राजदासी थी, वह यहाँ पहुँचकर जीवन-संगिनी बन जाती है। ठीक भी है, जो साहित्य कभी वैदिक-ऋषियों का, कभी रामकृष्ण का, कभी बुद्ध महावीर का, कभी पृथ्वीराज जयचन्द का, कभी भूषण शिवाजी का, तथा कभी हरिश्चन्द्र और अंग्रेजों का था, वह अब कुछ जनों का न होकर जनता का हो गया। इसको संसार की कोई शक्ति नहीं रोक सकती है। हमारे साहित्य ने अब देश

आराधना और देव उपासना की अपेक्षा, श्रम साधना का महत्व अधिक है। हमारे ही यहाँ नहीं, सारे विश्व में आज परिश्रम ही आराध्य, और परिश्रमी आराधक है, स्वभावतः साधक और सिद्ध भी वही है। साहित्य की इस प्रवृत्ति का विरोध, सूर्य पर धूल फेंकने के ही समान होगा।

यह प्रायः देखा जाता है कि नवीन युग को अपना स्थान बनाने के लिए पुराने युग से संघर्ष करना पड़ता है, क्योंकि समूह अधिकतर पुराणपंथी, प्रतिक्रियावादी, एवं रूढ़िप्रिय होता है। किन्तु अन्त में नवीन जीवनोपयोगी भावना की विजय निश्चित रहती है अन्यथा संसार विकास की इस स्थिति पर कभी न पहुँचता। द्विवेदी युग की जिस विरोध-भूमि पर हमारे छायावाद ने विकास पाया है वह किसी से छिपा नहीं। देश की रूढ़िगत संकुचित स्वदेशानुरागिता तथा काव्य की नीतिबद्धता से [illegible] भूमि में आने का श्रेय छायावाद युग को है। 'प्रसाद' के इस गीत में देश की जो रूप रेखा खींची गई है, उसमें देश की महिमा, तथा उसके प्रति कवि की जिस आन्तरिक स्नेहशीलता का उद्घाटन हुआ है, वह कोरी पद्य रचना ही नहीं, [illegible] से ओतप्रोत है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा!
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा!
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर!
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा!

ऐसे ही उनके अनेक पदों नाटकों और कहानियों में नूतन चेतना, तथा मानस वृत्तियों की सूक्ष्म, एवं सरस अवतारणा के साथ, देश की करुण परिस्थितियों का चित्रण है, जिसमें हमें व्यापक संवेदनीयता का पूर्ण परिचय मिलता है। 'निराला' की 'विधवा', भिखारी आदि कविताएँ, और अनेक कथाएँ, पीड़ित वर्ग की ममतामयी मानस मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी कवियों ने सौन्दर्य, प्रकृति, तथा

व्यक्तिगत-भावोन्मेष के बीच में व्यापक जीवन, एवं समष्टिगत-भावनाओं को भी अपनी काव्य-ममता दी है। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के कवियों ने सामाजिक आधार के साथ, व्यक्ति की स्वतंत्रता का भी पूर्ण-प्रतिपादन किया है। एक वैज्ञानिक की सच्चाई के साथ, भावनाओं, तथा कल्पनाओं का चित्र दिया है, जीवन की विषमता में एक व्यापक समता की स्थापना की है, वाह्य जीवन के साथ-साथ, आंतरिक जीवन की झांकी दी है, और साहित्य का भावनात्मक संस्कार किया है। इन कलाकारों ने समवेदना, तथा अनुभूति के जिस स्वर को स्पर्श किया है, वह हमारी बहुत सी सात्विक प्रवृत्तियों के जगाने में समर्थ हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। इस युग में न तो काल्पनिक-आदर्श का आधिक्य है, न विकृत-यथार्थ की आकुलता का वरन् दोनों के सामञ्जस्य का स्वर-सन्धान है। उनकी अन्तर्मुखी-प्रेरणा, जीवन से पलायन का परिचय न होकर, साधनात्मक परितृप्ति है, क्योंकि उन्होंने अपनी आन्तरि[illegible] है। यह [illegible] विद्वेष, [illegible] जीवन की इतिवृत्तात्मकता के प्रति मौन, उसके प्रति उनकी उपेक्षा का द्योतक नहीं; वरन् दीर्घकालीन-दासता की विवशता का मौन है, जो कलाकार की वाणी का संयम, तथा शक्ति हीं का प्रतीक है। वास्तविकता का ग्रहण आवश्यक है, किन्तु वाणी से नहीं जीवन से। कहना न होगा कि उस युग के साहित्यिकों ने, अपने विश्वासों के प्रति, सामाजिक, तथा राजनीतिक अनेक यातनायें सही हैं। निश्चित स्थान को जानेवाले पथ से, हमें उस स्थान का परिचय कभी नहीं मिल सकता, इसीप्रकार साहित्यिक की वाणी साधन मात्र है, सिद्धि नहीं!

आधुनिकतम साहित्य में, वैभव की वाञ्छा, तथा यश की लिप्सा रखने वाले सम्पन्न-व्यक्तियों का एक दल सामने आरहा है, जो जीवन

में अपने पड़ोसियों के रक्त-शोषण से उन्मत्त, तथा गवर्नमेन्ट की नौकरियों से आश्वस्त, और अपनी दल-बन्दी से विश्वस्त होकर, साहित्य में यथार्थ के नाम पर अनाचार, तथा उत्तेजना पूर्ण अश्लीलता का प्रचार करना चाहता हैं। आज का जीवन बुद्धि-प्रधान है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बुद्धि ने आक्रमण किया है, किन्तु कलात्मक अनुभूतियाँ तो जीवन की भावात्मक-भूमि में ही पनप सकती हैं, बुद्धि की तर्कनामयी ऊसर-भूमि में नहीं। बुद्धिवाद, जब कलात्मक-यथार्थ को, वास्तविकता की कठोर-पृष्ठिका पर, बिना भावात्मक-आदर्श की आकाश-छाया के, खड़ा करना चाहता है, तब वह अपनी सारी मर्मस्पर्शिता को खोकर, शुष्क-इतिवृत्त का रूप धारण कर लेता है। यथार्थ का साहित्यिक चित्रण शायद उतना सहज नहीं, जितना अपने को यथार्थवादी कहने वालों ने समझ रखा है। उन्नत-उरोज, और नयन-सरोज के मध्य में स्थित जीवन, कभी नरकंकाल की हड्डियों, और उसके उत्पीड़न का चित्र नहीं दे सकता। इस चित्रण की यथार्थता के लिये झोंपड़ियों की गंदगी की ओर जाना आवश्यक होगा। कितने ऐसे साहित्यक हैं, जो उस जीवन को अपनाने के लिए तैयार हैं? क्या कभी जीवन की सचाई की अपेक्षा की पूर्ति, बौद्धिक-सहानुभूति, और विशेष प्रकार के शब्द संकलन से की जा सकती है? कदापि नहीं। सिद्धांतों के अनेक बौद्धिक-निरूपणों से, क्या कभी जीवन की मुग्धता का संचालन किया जा सकता है? पिछले इतने हजार वर्षों के इतिहास, तथा साहित्य से पता चलता है कि, केवल हृदय, अथवा बुद्धि का एकांत विकास, साहित्य का सर्वनाश ही करने में सहायक हुआ है। दोनों के सामञ्जस्य से ही उसकी चरमोन्नति हुई है। सभ्यता की इस स्थिति में पहुँचकर, साहित्य के तत्व, विवाद के विषय नहीं, स्वीकार के विषय बन चुके हैं। विवाद खोज, तथा उत्तेजना, एवं अनिश्चय की सूचना है, किन्तु सभ्यता, विकास, जीवन के कल्याणकारी-तत्वों की अनुभूति, और प्रगति का नाम है।

जिस कला, संस्कृति, तथा सभ्यता में जनता को निरन्तर जीवन-दान की सहज क्षमता नहीं है, वह स्थिर नहीं रह सकती। उसकी कसौटी, सत्य-शोधक अन्तर्दृष्टि, तथा जीवन की निश्चित एवं नियमित गतिशीलता है, आज तक की भारतीय-चेतना का यही सन्देश है। अस्तु, विदेशी-बौद्धिकता तथा भौतिकता के प्रभाव से, क्षुद्रता एवं कुरुचि को आश्रय देना एक महान अपराध है। मनोविकारों के संयम, और साधना की, साहित्य में बड़ी आवश्यकता रहती है, जो जीवन की सब से बड़ी सार्थकता है। जीवन की निरन्तर प्रवाह-शीलता का महत्व न समझकर, आज संसार उसकी रक्षा के नाम पर उसी का विनाश कर रहा है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन समाप्त होना जानता ही नहीं। अपने नाश की प्रत्येक क्रिया, भावना, तथा संकल्प को वह भीषण-संघर्ष के सहारे कुचल देता है, और स्वयं आगे बढ़ जाता है। जीवन को समाप्त करने का जितना प्रबल-प्रयास-आधुनिक बुद्धिवाद, तथा विज्ञान ने किया है, उतना और कभी नहीं हुआ था। हम चाहते हैं कि भारतीय-साहित्य, इस विनाश की प्रवृत्ति में न फंसे, और अपनी संस्कृति की प्राणप्रद-प्रेरणा से हृदय, और बुद्धि, यथार्थ, और आदर्श कल्पना, और चिन्तना के समुचित-सामञ्जस्य के साथ, अपने स्वाभाविक विकास के मार्ग पर अग्रसर हो। तभी साहित्य में हम व्यक्तिगत-अनुभूतियों को, व्यापक-सहानुभूति से सामूहिक-रूप दे सकेंगे, अन्यथा नहीं। साहित्य सागर में व्यक्तिगत जीवन की धारा, जब तक अपने को पूर्णतया निमज्जित नहीं कर देती तब तक उसे सागर की अतल गहराई, और उसकी विस्तृत-व्यापकता नहीं प्राप्त हो सकती। साहित्य के संरक्षण में व्यक्तिगत-जीवन, विश्व-जीवन का स्वरूप पा लेता है, और इसी स्वरूप-प्राप्ति के बल पर कलाकार की अनुभूति को, लोक सामान्य-अनुभूति बनने का अधिकार भी मिल जाता है। साहित्य, और जीवन का यह विनिमय-संबंध, अनादि काल से चलता आ रहा है। कलाकार के मनोदेश में जीवन

का जो स्वरूप रागात्मक-रस का उद्बोधन करता है, वही उसकी साहित्य-सृष्टि का विषय होता है, और जो अंश उस के ज्ञान को जगाता है वहीं चिंतन का विषय बन जाता है। जीवन का भावात्मक-रूप, कला का प्राण है, और चिंतन की प्रणाली, ज्ञान की गरिमा है। कला तो भावना की सृष्टि है, दृश्य जगत की प्रतिमूर्ति नही। साहित्य का जीवन साहित्यकार की निजी समवेदनीयता, तथा सात्विकता से अपना स्वरूप पाता है। मानव-जीवन कितना ही विभिन्न होकर मूल रूप में एक है, अतः एक की जीवन-साधना से सब की सहानुभूति जाग्रत हो उठती है, जो कलाकार के साधना की चरम सिद्धि है। कलाकार, जब हृदय के स्थान पर बुद्धि तथा भाव के स्थान पर तर्क की स्थापना करता है, तब समझ लेना चाहिये कि वह आत्म-हत्या की तैयारी कर रहा है। इसीप्रकार साहित्य में किसी भी विजातीय-भाव धारा का आह्वान वहीं तक उचित है, जहाँ तक वह अपने देश की संचित-संस्कृति, और मौलिकता के भीतर समाहित हो सके, क्योंकि ग्रहण जीवन की रक्षा के लिये होता है, जीवन त्याग के लिये नहीं, अन्यथा मृतक को चाहिये ही क्या ?

जीवन की समालोचना के रूप में, साहित्य के अन्तर्गत कलाकार की उन सभी भावनाओं का समावेश हो जाता है, जो जीवन की सुन्दरता का स्पष्ट उद्देश सामने रखती है, किन्तु व्यापक-जीवन की शुचिता, तथा सदाचारिता का उसमें अभाव नहीं हो सकता। 'जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जाय' के प्रश्न को हल करने के लिये ही, साहित्य में जीवन की व्याख्या की जाती है। अस्तु, जो साहित्य जीवन यापन की सुन्दर सार्वजनिक-योजना का उद्घाटन नहीं करता, उसका स्वभाव कभी, साहित्य कहे जाने योग्य नहीं होता। साहित्य का वही स्वरूप विश्व-कल्याण कारिणी-भावनाओं से ओतप्रोत रहता है। संसार के सत्य को सौंदर्य के माध्यम से देखने की रुचि को ही साहित्यिक-महत्व प्राप्त होता

है। समस्त विश्व के मूल-रहस्य को सौंदर्य हमारे सामने प्रत्यक्ष कर देता है। जिस प्रकार- मधुर कोकिल-कंठ से निकला एक स्वर, समस्त-वायुमंडल को आकुल कर लेता है, उसीप्रकार सौंदर्य-बोध, सृष्टि के सारे रहस्य को अपने में समाहित किये रहता है। संकीर्ण-हृदय मनुष्य भी, अपनी भाव-सृष्टि तथा सौंदर्य, एवं सहानुभूति के सहारे एक पूर्ण जीवन की एकता, विस्तार, एवं उसके भीतर निहित चिरन्तन सत्य का स्पर्श कर लेता है, क्योंकि सुन्दर वही है, जो सत्य, और शिव हो। सौन्दर्यानुभूति के इसी पुलक-स्पर्श से साहित्य का सृजन होता है। अतएव जिस साहित्य में हृदय के राग विराग, तथा अनुराग को जागरित करने की कामना नहीं केवल तर्क की शुष्क जिज्ञासा है, वह साहित्य नहीं। बुद्धि का भी उपयोग साहित्य में किया जा सकता है, किन्तु वह उसकी जननी नहीं। बेसिक ट्रेनिङ्ग-कालेज में माँ-बहनों की ममतामयी स्नेहशीलता में पढ़ाया जाता हुआ बालक, कभी उनका अपना आत्मज नहीं होता, वह अपने जन्म-जात संस्कार, हृदय के एक कोने में अपनी सारी शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ-छिपाये रहता है। उसीप्रकार, कला, बुद्धि की संचालन-शक्ति होकर भी अपनी मूल-प्रेरणा, हार्दिकता को अपने में छिपाये रखती है, क्योंकि ऐसा न होने से वह कला ही न रह जायगी। समन्वय के इस सिद्धान्त को भुलाकर, साहित्य सृष्टि करने की चेष्टा, मन्दिर में पहुँचकर आराध्य-देव की अपेक्षा इधर-उधर कंकड़-पत्थर टटोलने की भाँति व्यर्थ साबित होगा। भारत की एक अपनी संस्कृति है, वही हमारे राष्ट्र-जीवन की रीढ़, आत्मा की आस्था, और सामाजिक, तथा साहित्यिक-विचार की निर्देशिका है। उसकी उपेक्षा करके, दूसरे वैज्ञानिक चकाचौंध में पनपे देशों की नकल से हम उन्नति नहीं कर सकते, यह सूर्य के साथ प्रकाश की भाँति निश्चित, और निर्विवाद है। अपने को प्रगतिशील कहने वाला साहित्यिक, इस तथ्य का तिरस्कार करके, देश के जीवन

में मृत्यु के व्याघात उत्पन्न कर रहा है। नारी विषयक अनेक कुरूप रचनायें, प्रगति के नाम से सामने आई हैं। कहना न होगा कि किसी भी जाति के जीवन, और संस्कृति के निर्माण में, नारी की प्रकृति का कितना बड़ा श्रेय सम्मिलित रहता है। उसका स्वभाव ही सृजन, और पोषण है। प्राणि-शास्त्रज्ञों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि नारी-निर्माण-प्रिय, तथा पुरुष विध्वंस-प्रिय होता है। जीवन सत्ता की आधार-नारी की यह कदर्थना, साहित्य की मृत्यु-लालसा के अतिरिक्त कुछ नहीं। ऐसे चित्र जातीय-पतन के प्रतीक हैं, इसे कोई नहीं इन्कार कर सकता है। आज का जीवन-दर्शन हमारा-नहीं विदेशों का है, इससे हमें बचना होगा। यथार्थ की ओट में नग्न-पैशाचिकता का प्रदर्शन हमारा कल्याण नहीं कर सकता, क्योंकि साहित्य में चित्रित जीवन सत्य-सृष्टि के चुनाव से बनता है, उसके पोस्टमार्टम् से नहीं।

अस्तु, वादों-विवादों के झगड़े से दूर, जीवन वादी साहित्य की सर्जना हमारा चरम-उद्देश्य होना चाहिये। युगों की दासता के कारण, आत्म-सम्मान, और आत्मबल से वंचित होकर, यदि आज साहित्यक अपनी संस्कृति को छोड़कर, संसार के भोगोन्मत्त देशों के साथ, अपना स्वर मिलाना चाहेगा तो, उसे जीवन के आनन्द [illegible] अमृत के प्याले को त्यागकर, बरबस [illegible] भावना है। सर्व-कल्याण की [illegible] भारतीय साहित्य की सब से बड़ी देन है, इस भावना के प्रसार, और प्रचार की व्याकुलता, साहित्य का सब से उपयोगी, और सुन्दर युग-दर्शन साबित होगा, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय-साहित्य के प्राणों का एकत्व, समत्व और प्राणी-मात्र के प्रति ममत्व ही, उसकी सब से बड़ी विशेषता है। कहा भी गया है:—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'

अस्तु, समष्टिगत व्यापक जीवन के स्वस्थ स्वाभाविक सौन्दर्य, उसकी बाहरी और भीतरी आकांक्षायें और उसके विकास की समुचित समस्याओं का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन ही साहित्य की सार्थकता है। जीवन, समय और समाज को गतिशील करने वाली शक्ति भी उसे कहा जा सकता है। यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने साहित्य को मानवता का आत्म-दर्शन कहा है। इस आत्म-साक्षात्कार में प्रकृति के सौन्दर्य और सामयिक जीवन की प्रगति की किसी प्रकार से उपेक्षा नहीं हो सकती क्योंकि दृश्य-जगत की वास्तविकता और अन्तर्जगत की विकासोन्मुख सम्भावना से ही जीवन का निर्माण होता है। उसमें आध्यात्म और भौतिकता दोनों का सहयोग अपेक्षित है। प्रकृति के जड़ कणों में सुप्त जीवन भी साहित्य में उतना ही महत्व रखता है जितना चेतना से प्रतिक्षण स्पन्दित मानव-जीवन। साहित्य में जीवन की अव्यक्त अर्द्ध मीलित कलियों का सम्भाव्य-सौरभ उतना ही ग्राह्य है जितना खिले हुये सुरभित वासन्ती सुमन का सुगन्धोल्लास, स्वच्छन्द विहग का स्वाभाविक कलरव उतना ही प्रिय है जितना किसी कलाविद् द्वारा झंकृत वीणाध्वनि का संभार, क्योंकि साहित्य में जीवन की स्थापना के लिये प्रत्यक्ष तथा स्थूल सत्य एवं अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म सत्य दोनों विषयों को अपनाना आवश्यक है। हमारे जीवन में सूक्ष्म और स्थूल, हृदय और बुद्धि कल्पना और भावना की जैसी [illegible] को केवल सूक्ष्म या केवल स्थूल में प्रतिष्ठित नहीं होने देगी, ऐसा मेरा अपना विश्वास है। साहित्य में जीवन को स्पष्ट करने के लिये उसके भीतर तथा बाहर के सभी उपकरणों का निरीक्षण तथा परीक्षण करना पड़ेगा। जीवन की सतत् गतिशीलता का अनुसरण बिना उसकी अनन्त विविध परिस्थितियों के विश्वास के सम्भव नहीं हो सकता। अतएव साहित्य का सृजन बुद्धि की प्रौढ़ता और हृदय के विस्तार के सम्मेलन से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। सम्भवतः इसीलिये कहा गया है कि

किसी भी युग का साहित्य केवल अपनी इकाई में ही पिछड़ता है, समष्टि की प्रगति में अग्रसर रहता है क्योंकि वह सदैव मानव-जीवन और उससे सम्बन्धित वातावरण की सामञ्जस्य पूर्ण व्यवस्था का ही उद्देश्य सामने रखता है और कुछ नहीं। साहित्य के प्रति मेरा यही दृष्टिकोण है।

अन्त में यह कह देना उचित जान पड़ता है कि हिन्दी के विशिष्ट आधुनिक कथाकारों की प्रतिभा-प्रवृत्तियों तथा भावधाराओं के अध्ययन की चेष्टा मैंने साहित्य के उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही की है। यथास्थान सामान्य कृतियों तथा प्रवृत्तियों का भी उल्लेख इसमें किया गया है। फिर भी यह कहना कि पुस्तक में हिन्दी के सभी कथाकारों की कृतियों का पूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है, ठीक न होगा।

कथा-साहित्य की गतिविधि प्रणालियों का परिचय इसमें दिया गया है किन्तु कथाकारों की अपेक्षा कथा की मूल चेतना के ऐतिहासिक विकास व्यवस्था का ध्यान अवश्य ही अधिक रखा गया है। स्वभावतः चुनाव में कथाकारों की अपेक्षा विषय अनुरूपता की परितृप्ति ही प्राधान्य पा गई है। कथा-साहित्य की आधारभूत-प्रेरणाओं के प्रेमी पाठकों को इसका अध्ययन अरुचिकर न होगा, यह मैं जानता हूँ।

प्रयाग —लेखक

२१-२-४४

कहानी

कथा-साहित्य के आदि छोर को पकड़ने की इच्छा रखने वाले पाठकों को, कसौटी में खरी उतरनेवाली कहानियाँ मानवता के आदि ग्रन्थ वेदों तक में भी मिल सकती हैं, किन्तु इस कला का परिपूर्ण विकास आधुनिक युग की देन है। आज यह साहित्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। प्रतिदिन परिवर्धित होने वाली इस कला के विषय में संक्षेपतः विचार कर लेना उचित ही है।

मानवता के सनातन साथी ग्रामगीतों में जीवन और जगत का जो सहज-सरल स्वरूप सन्निहित किया गया था, वह कलागीतों में अपने स्वाभाविक रूप में न समा सकने के कारण शायद कहानियों में बदल गया। यद्यपि कलागीतों से जीवन की सौंदर्य-ग्राहिणी शक्ति बढ़ी, किन्तु उसकी वास्तविकता से वह कुछ दूर पड़ता गया—स्वभावतः जीवन-तत्त्व-हीन। कलागीतों की व्यक्तित्व-व्यवस्था ने सामूहिक व्यवस्था से पछाड़ खाई। काव्य की भाँति, तुलसी या सूर की रचना पसन्द करने का प्रश्न कहानी में नहीं उठाया जा सकता—वहाँ तो सामूहिक जीवन की सत्ता रहती है, जहाँ व्यक्ति भेद प्रकट ही नहीं पाता। विश्व-बचपन की आत्म-लीन सुकुमारता—अर्थात् काव्य—का स्थान जैसे सजगता और सामूहिक चेतना के आग्रह ने कहानी की तरुणाई में बदल दिया है। कला की कोई प्रवृत्ति जब पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है, तब उसका स्थान परिवर्तित होना आवश्यक होता है। गीतों ने व्यक्तिगत सौन्दर्य-उद्भावन में अपने अन्तिम आदर्श तक पहुँचकर स्वाभाविकता की स्थापना के लिये कहानियों को जगह दे दी। बाहर के प्रमाण या मापदण्ड की चिन्ता न करने वाली काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जब आज के वैज्ञानिक झटके को नहीं सहन

कर सकी, तब बाह्य जगत को अपनाने वाली कहानी सामने आई। आसक्ति अनासक्ति में बदल गई—गीत कहानी में और महाकाव्य उपन्यास में पुलकित हो उठे। दमयन्ती का हंस, नागमती का सुआ तथा यक्ष का काव्योचित मेघदूत इस युग में 'प्रोजैइक' बन गया। काव्य के भावुक नाबालिगों को गद्य के बौद्धिक सयानों ने पीछे हटा दिया। आज गद्य का ही युग है और कहानी उसकी सशक्त कलात्मक आभा। उच्च श्रेणी की कला का उत्पादन आज कथा-साहित्य के ही द्वारा हो रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

यह युग परिभाषाओं का नहीं, प्रयत्नों का है, किन्तु प्रकाश की चकाचौंध से ऊब कर उसकी एकदम उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। अपने दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिये कला-विषयक धारणाएँ भी आवश्यक होती हैं। कहानियों के आकार-प्रकार का सर्वमान्य सम्यक् विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ, यद्यपि बीसवीं सदी में, साहित्य में सब से मार्मिक और महत्त्वपूर्ण स्थान कहानियों का ही है। कुछ आलोचकों का तो यह कहना है कि कहानी का कोई विशेष आकार-प्रकार होता ही नहीं। वेल्स का मत है कि कहानी वह चित्रण है जिसे साहस और कल्पना के साथ एक घंटे से कम में पढ़ा जा सके। दूसरे लोगों का कहना है कि किसी वस्तु या व्यक्ति विशेष के परिमार्जित एवं कलापूर्ण वर्णन का ही नाम कहानी है। दार्शनिक आलोचकों ने तो यहाँ तक कहा है कि कहानी वही है जो किसी सद्वस्तु, सत्तत्व, सत्सिद्धान्त या सद्व्यवहार का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हो। जो भी हो, यह सम्पूर्ण विश्व-जीवन ही एक कहानी है, सम्भवतः इसी कारण साहित्य की कहानी भी रोचक लगती है। कहानी में अन्य कलातत्त्वों की अपेक्षा किसी चरित्र की सर्वाधिक व्यञ्जकता तथा मनोरंजकता का महत्त्व निर्विवाद है। प्रभाव कहानी का प्राण और स्वाभाविकता उसके स्वरूप की शपथ है। काव्य की कल्पना की अपेक्षा कहानी में सामान्य जीवन की सत्यता का ही

आधिक्य रहता है। कहानी में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि जिस प्रकार भावना ही जीवन नहीं है, कल्पना ही वास्तविकता नहीं है, उसी प्रकार कठोर सत्य ही एकमात्र सत्ता नहीं है, चिन्तन ही अस्तित्व नहीं है। समष्टि रूप से भावना तथा चिन्तना का संयोजन, कल्पना एवं सत्य का संश्लेषण और इन दोनों तत्त्वों से सम्मिश्रित तथा सुसम्बन्धित चेतना का ही नाम मानव-जीवन है। कहानी इसी जीवन की इकाई है। स्वभावतः कहानी को जीवन के भावात्मक तथा विचारात्मक दोनों छोरों को छूते हुए चलना पड़ता है। आत्म-अभिव्यञ्जना के साथ कहानीकार को दूसरे की भावनाओं का भी उल्लेख करना पड़ता है; क्योंकि अपने मनोभावों की तुष्टि व्यक्ति, काव्य तथा अपने प्रियजनों एवं पुरजनों के बीच में भी पा सकता है, किन्तु दूसरे के मनोभावों तथा प्रवृत्तियों का परिचय देने की उत्सुकता ही उसे कहानी की ओर प्रेरित करती है। मानव की परोपेक्षित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति—व्याकुलता—ही कथा-साहित्य की सृजन-सूचना है। अपनी कहने और दूसरे की सुनने की रुचि ही कथा-साहित्य के जन्म का कारण है।

संसार का सम्पूर्ण ज्ञान स्वयम् से ही प्रारम्भ होता है। इस स्वयम् की स्थिति समाज और संसार के बीच में होती है। इसी कारण मनुष्य बाह्य जगत में अपने अन्तर्जगत के समान या असमान, अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी देखता है उससे उसके हृदय में एक क्रान्ति का संचार होता है और वह उसकी अभिव्यक्ति के लिये आतुर हो उठता है। उसके जीवन के क्रियाकलाप उसके भावों की गतिविधि की सूचना देने लगते हैं। मनुष्य का जीवन कभी एक सीधी रेखा की गति से नहीं गुजरता। उस पर जीवन और जगत के नाना व्यापारों का घात-प्रतिघात होते रहते हैं जो उसकी गति को अव्यवस्थित करते रहते हैं। शायद सरल रेखा की गति से चलने पर जीवन की विशिष्टता भी न रह जाती क्योंकि भावों के उत्थान-पतन का अभाव जीवन का नहीं, मृत्यु का

लक्षण है। भावों के अन्तर्द्वन्द्व से जीवन, शक्ति और साहस का चयन करता है। साहित्यकार भावों के इस अन्तर्विरोध का साधनात्मक समन्वय करना जानता है, क्योंकि भावों के स्वाभाविक परिवर्तन और गति-क्रम को दिखाना कला का उच्चतम आदर्श है। कहना न होगा कि हृदय में भावों के जो भिन्न-भिन्न वृत्ति-चक्र हैं वे सब, समस्त मानव-सृष्टि में न्यूनाधिक रूप से एक ही प्रकार के उपकरणों से निर्मित हैं। यदि दुख, दुख है, सुख, सुख, तो इनमें धनी और गरीब का भेद मिट जाता है। सीताहरण पर राम का विलाप एक सामान्य पुरुष का विलाप है, किसी राजकुमार का नहीं। मदन-दहन के पश्चात् रति का रुदन एक सामान्य स्त्री का ही रुदन है। कहने का तात्पर्य यह कि भावों की सत्ता में व्यक्तित्व की विशेषताएँ प्रायः समाहित हो जाती हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं। एक सामान्य और दूसरे उद्दीप्त। उद्दीप्त या तीव्र भावों को मनोवेग या राग कहते हैं। राग किसी न किसी आधार की अपेक्षा रखता है। सामान्य भाव, इंद्रिय जनित और सीमित होते हैं, किन्तु रागात्मक भाव अधिक तीव्र तथा व्यापक होते हैं। साहित्य में इन्हीं रागात्मक भावों की मान्यता होती है। व्यक्ति, जीवन और जगत के संयोजित प्रभाव— राग से ही कहानी कला का निर्माण [illegible] ता है। भाव-विज्ञान की इस अन्विति का पूर्ण निर्वाह केवल कथा-साहित्य में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। राग के आधार को जानने की इच्छा, इच्छा से ज्ञान तथा ज्ञान से कर्म की प्रेरणा पाता हुआ कथाकार अपने निश्चित पथ का अनुसरण करता है।

बाह्य जगत और अन्तर्जगत के तारतम्य में एक सौन्दर्य है। यह सत्य है कि जो बाह्य है वह अंतः नहीं, किन्तु दोनों एक दूसरे से प्रभावित अवश्य होते हैं। बाह्य जगत के सौन्दर्य का उपभोग तो सभी करते हैं, किन्तु अन्तर्प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग केवल कलाकार ही कर सकता है। जीवन के बाहर का सौन्दर्य उसके भीतर के माधुर्य का पोषण करता

है और जीवन के भीतर का सौन्दर्य उसकी अभिव्यक्ति को उद्दीप्त कर देता है। यही कारण है कि कहानीकार कवि की भाँति केवल रूप-सौन्दर्य पर ही मुग्ध नहीं हो जाता, वरन् वह गुण-सौन्दर्य का भी चित्रण करता है। वह उपवन में खिले फूल को कवि की सौन्दर्य-प्रियता और वैज्ञानिक की विवेचन-प्रियता की सम्मिलित दृष्टि से देखता है। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। यह सच है कि केवल तर्क और बुद्धि-वृत्ति के अनुसार मनुष्य अपना जीवन नहीं चला सकता। उसके प्रत्येक कर्म के मूल में किसी न किसी प्रकार का भाव अवश्य छिपा रहता है, क्योंकि भाव स्वतः प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वह कर्म के रूप में ही अपनी उपस्थिति देता है। सम्भवतः इसीलिये मनुष्य की कोई भी क्रिया तब तक कर्म नहीं मानी जाती जब तक उसमें उसकी इच्छा का योग न पाया जाय। कहानी में जब तक भाव से कर्म का योग नहीं होता तब तक वह अपनी सार्थकता की सीमा में प्रवेश नहीं कर पाती। व्यक्ति के प्रत्येक प्रेरक भाव के विवेचन तथा विश्लेषण से उसके जीवन की क्रियाओं का रहस्य प्रकट हो जाता है, इसे कौन नहीं जानता? इच्छापूर्वक सहेतुक कर्म नियोजन ही कलाकार की सब से बड़ी साधना है। महत्ता, महदिच्छा ही का दूसरा नाम है। वास्तव में जगत में किसी भी प्राणी या पदार्थ में जब तक अपनी सत्ता का कोई चिह्न न मालूम हो तब तक उसको प्राप्त करने, उसके संरक्षण या उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का भी भाव हृदय में नहीं उत्पन्न होता? इसलिये कहानीकार को जीवन और जगत के प्रति सदैव एक समवेदनात्मक दृष्टिकोण रखना आवश्यक हो जाता है। यहीं वह कवि से आगे बढ़ जाता है, क्योंकि कवि सौन्दर्य-प्रेमी होता है और कहानीकार स्थिति-प्रेमी। जीवन में स्वार्थ, परार्थ तथा परमार्थ तीनों की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं। स्वार्थ के बिना व्यक्ति का जीवन सम्भव नहीं है, परार्थ के बिना समाज-विधान का अस्तित्व नहीं है और परमार्थ के अभाव में लोक-कल्याण की भावना का विकास नहीं हो सकता। जीवन के पोषण, वर्द्धन

तथा विकास के सभी उपादन प्रत्येक व्यक्ति के पास हृदय-वृत्तियों के रूप में उपस्थित हैं। कहानीकार इन वृत्तियों के सम्यक् समन्वय से जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति में सहयोग देता है। जहाँ अन्य प्रकार की कला भावों को क्रिया का रूप न दे सकने के कारण आशा-आकांक्षा की उलझन में फँस कर बौद्धिक चेतना के घेरे में निष्क्रिय तथा कल्पनाशील बन जाती है वहाँ कहानी, भाव और कर्म की योग-चेतना से संचालित होकर बराबर गतिशील बनी रहती है। काल्पनिक भावुकता और वास्तविक भावुकता में यही अन्तर होता है। जीवन और जगत के प्रति उदार भावना से हीन, अपने अहम् में लीन अंतःसाधना मनुष्य की चित्त-वृत्ति को तृप्त नहीं कर सकती, उसे फुसलाकर एक दूसरे स्तर पर अवश्य पहुँचा सकती है। साहित्य के हेतु जब गौण हो जाते हैं या निर्बल पड़ जाते हैं तब बहुधा 'कला कला के लिये' की पुकार होती है। साहित्य के हेतु को नियमित तथा निश्चित रखने और जीवन एवं जगत के साथ उसे सम्बन्धित करने के लिये ही आज कहानी ने साहित्य में उच्चतम स्थान पाया है। चराचर सृष्टि के साथ मानव-जीवन को सहानुभूति के सूत्र से बाँधकर सामूहिक जीवन के किसी मार्मिक स्तर का उद्घाटन ही कहानी कला की चरम परिणति है। शायद अर्नल्ड बेनेट ने इसीलिये कहा है—"कथाकार वही है जो जीवन देखकर इस तरह प्रभावित है कि अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करने के लिये कथा का ही सहारा लेता है, क्योंकि इसी के द्वारा वह अपनी संवेदनाएँ व्यक्त कर सकता है। सामूहिक जीवन से प्रभावित अपने मनोभावों को आपस में प्रकट करने की आवश्यकता से ही अपने आस-पास की समस्त वस्तुओं के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा की उद्भावना होती है, कहानी इसके उद्घाटन का सर्वोच्च साधन है"।

हिन्दी में कहानी-साहित्य का युग 'रानी केतकी की कहानी' से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु काल ने अनुवादों के द्वारा अपना विकास

आधुनिक

पाया। अंग्रेजी की छोटी भाव-व्यञ्जक कहानियों ने बंग-भाषा में कहानियों की अवतारणा की और वहाँ से हिन्दी को प्रेरणा मिली। यह ठीक है कि नये ढंग की कहानियों का बीज हिन्दी में बंगाली साहित्यकों की कृतियों से ही आया। पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी सम्भवतः इस ओर का प्रथम मौलिक प्रयास है। पं० माधव प्रसाद मिश्र ने भी कुछ मौलिक कहानियाँ उसी समय लिखी थीं। लाला पारवतीनन्दन के नाम से इण्डियन प्रेस के मैनेजर बाबू गिरिजा-कुमार घोष ने अंग्रेजी की अनेक कहानियों का भावानुवाद किया और कहानियों की ओर जनता की रुचि बढ़ाने में सहायता की। जनता की रुचि तो बढ़ी किन्तु मौलिक कहानियों के अभाव ने उसे संतोष नहीं दिया। हिन्दी कथा-साहित्य के प्रारम्भिक काल में 'बंग-महिला' की सेवाएँ सराहनीय हैं। १९०७ की सरस्वती में 'दुलाईवाली' सर्वथा मौलिक कहानी प्रकाशित हुई। इसी समय के आस-पास श्री भगवान-दास, श्री रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री गिरिजादत्त की कहानियाँ भी सामने आईं। उस समय तक कहानियों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था। कल्पना के सहारे लेखक जनता की भावनाओं को स्फूर्ति देना ही अपना सबसे बड़ा काम समझते थे। क्रमशः मनमोदकों से भूख न मिटने की बात स्पष्ट हो गई और कल्पना का स्थान वास्तविकता ने ले लिया। वास्तविकता के साथ-साथ नवीन भावों के चित्रण की भी वृद्धि हुई और जीवन के प्रत्येक स्वरूप का चित्रण कहानियों में होने लगा।

१९११ में श्री जयशंकर प्रसाद की एक कहानी 'इन्दु' में 'ग्राम' नाम की प्रकाशित हुई। उसके बाद श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्री चतुरसेन शास्त्री आदि का अभ्युदय हुआ। इस युग के प्रथम लेखक श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' की कहानियाँ मानवीय भावनाओं के घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व भावात्मक संघर्ष से अपना स्वरूप पाती हैं। इनकी प्रायः प्रत्येक कहानी के प्राण करुणा

और सहानुभूति से सिंचित हैं। राग-द्वेष, क्षमा, घृणा, क्रोध तथा प्रेम सभी की चरम परिणति करुणा में होती है—सम्भवतः बौद्ध इतिहास और बौद्ध साहित्य के अध्ययन का यही परिणाम होता है। उनकी कथाओं का मूल आधार भावुकता है और उनकी शैली भाव प्रधान है। जीवन के कोमल और कठोर पक्षों के समन्वय में वे अद्वितीय हैं। कौशिक जी की कहानियाँ किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चलती हैं। वार्तालाप-प्रधान होना उनकी अपनी विशेषता है। सामान्य जीवन की पारिवारिक परिस्थियों के प्रकाशन में कौशिक जी की खासी गति है। गुलेरी जी ने बहुत कम कहानियाँ लिखीं, किन्तु उनकी कहानियाँ कहानी कला के गुणों से ओत-प्रोत हैं। उनकी 'उसने कहा था' कहानी हिन्दी में बेजोड़ मानी जाती है, यह बात दूसरी है कि मैं स्वयं ऐसा नहीं मानता। शास्त्री जी भाषा कौशल में ही अटके रहे। यद्यपि परिमाण में उन्होंने बहुत लिखा, परन्तु कहानीकार की हैसियत से उनके लिये केवल यही कहा जा सकता है कि "मच्च पेपर एण्ड पॉवर्टी में गो टुगेदर"। अर्थात् "अधिक कागज़ और निर्धनता दोनों के साथ-साथ चलने की संभावना रहती है"।

सन् १९१६ का वर्ष हिन्दी कहानी साहित्य में एक अपूर्व परिवर्तन की सूचना है। इस वर्ष नवाबराय के उपनाम से उर्दू में कहानियाँ लिखने वाले प्रेमचन्द ने हिन्दी में प्रवेश किया। इनका हिन्दी में आना एक नये युग की सूचना है। कल्पना और आदर्श से आवद्ध-वातावरण ने इनके हाथों से मुक्ति पाई। प्रेमचन्द भारतीय मूक जनता के लेखक हैं। जनता के जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के उपादान से उन्होंने अपनी कथा-प्रतिमा तैयार की, जो जीवन के प्रत्येक अंग का प्रतिनिधित्व करती है। समाज के जिन-जिन विशेष स्तरों पर प्रेमचन्द ने अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला है वह हमारे सामाजिक जीवन का रहस्य सरल और स्पष्ट बनाने में सहायक है। भारतीय जीवन

आधुनिक

की सामूहिक और सामयिक परिस्थितियों के चित्रण में वे अन्यतम हैं। उनकी कला ने इसी दिशा में अपना चरम विकास पाया है, अन्य क्षेत्रों में वह इतने सफल नहीं हैं। प्रेमचन्द की कहानियों का पहला आकर्षण कहानी है, उन्हें केवल कथा के आनन्द के लिये भी पढ़ा जा सकता है। यही कारण है कि समाज-सुधारक प्रेमचन्द से कलाकार प्रेमचन्द किसी तरह कम नहीं हैं। प्रेमचन्द, कहानियों में प्रायः एक ही प्रधान घटना का आयोजन करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि कथानक की गति के साथ पाठक का मस्तिष्क भी प्रवाहित होता जाता है और समय की इस एकता का पूर्ण प्रभाव प्राप्त करने में वह सफल होता है। उनकी सभी कहानियों का प्रारम्भ सधा हुआ और सुगठित होता है। शिक्षा [illegible] स्थिति से दूर, बूढ़े बाबा ईश्वर के नाम पर चुपचाप जीवन की नारकीय यातनाओं के सहने वाले सरल-हृदय मानवों की आत्मीयता प्रेमचन्द की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है। इसका आशय यह नहीं कि प्रेमचन्द ने जो कुछ भी लिखा सब उच्चकोटि का है। कभी-कभी तो उन्होंने अपने सुधारक के विचारों को कला की अलगनी में इस प्रकार लटकाया है कि कला लड़खड़ाने लगी है। उनके उपन्यास इस बात के उदाहरण हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों की संख्या भी करीब एक दर्जन है, किन्तु उपन्यासकार की हैसियत से वे उतने सफल नहीं हैं जितने कहानीकार के रूप में। उनके उपन्यासों का वातावरण अधिकांशतः भारत के ग्रामों का है। वे भारत की उस जनता की कथा के चित्रकार हैं जो अपनी हृदय-ज्वाला को, लाचार गरीबी और निःसहाय वेदना को कभी वाणी नहीं दे सकी, जिनके अनेक भावों का उत्थान-पतन आजीवन होठों पर ही आकर मिट गया, जिनकी निर्जीव निश्वासें चिता की लपटों के साथ ही बाहर निकलीं और जिनकी मार्मिक वेदना आँखों के कोनों में ही सूख गई। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में महात्मा गांधी के राष्ट्र-जागरण

और सुधार-आह्वान का संजीवन संदेश दिया है, जिसके कारण प्रथम दृष्टि में विश्वजनीन भावों का उनमें अभाव सा मालूम होने लगता है। राष्ट्र विशेष की भावाभिव्यक्तियाँ अपनी सीमा में विश्व राष्ट्र को नहीं समेट पातीं, यह स्वाभाविक है। पर वास्तव में उनकी कहानियों में यह बात नहीं है, क्योंकि उनकी कहानियाँ मानवीय संस्कृति में जो सत्य, शिव और सुन्दर है, समष्टि रूप से मानवता का जो मन, प्राण, जीवन और चेतना है उन सब को अपनी ममता से, आलिङ्गन में आबद्ध किये हुए हैं। कहानियों में प्रेमचन्द की विचारधारा समस्त प्राकृत-मानव-भावना में परिव्याप्त है और इसी का नाम कला की साधना है। वह उच्चकोटि के कहानीकार हैं, यह निर्विवाद है।

प्रेमचन्द की साहित्य-साधना के समय उत्साही नवयुवकों का एक दल कथा-साहित्य के गगनांगन में प्रदीप्त नक्षत्रों की भाँति प्रज्वलित हो उठा था। सर्वश्री सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा शिवपूजन सहाय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सुदर्शन की कहानियों का, उद्गम-स्थान वही है जो प्रेमचन्द की कहानियों का, किन्तु आगे चल कर वह एक उपदेशक तथा प्रचारक का रूप धारण कर लेते हैं। अन्त में उन्हें अपनी सूझ और स्वभाव से फिल्म का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि वहाँ कला की आवश्यकता उतनी नहीं होती जितनी प्रचार प्रदर्शन की। बख्शीजी ने कुछ भावात्मक कहानियों के लिखने के बाद मौन को ही अपना अलंकार मान लिया। इस प्रकार इस सदी की तीसरी दशाब्दि के प्रारम्भ में कथा की अपेक्षा हिन्दी में काव्य-चर्चा का ही प्राधान्य था।

पिछले महायुद्ध के बाद विश्व-जीवन की भावधारा के आमूल परिवर्तन से भारत भी तटस्थ न रह सका और साहित्य में जीवन की स्थापना के लिये कहानियों का प्रचार बहुत वेग से आगे बढ़ चला।

आधुनिक

१६२० के पश्चात् बहुत से नवीन कहानी-लेखकों का अवतरण हुआ। सर्व श्री मोहनलाल नेहरू, भगवती प्रसाद वाजपेयी, बेचन शर्मा उग्र, विनोदशङ्कर व्यास, वाचस्पति पाठक, जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी के नाम लिये जा सकते हैं। मोहनलाल नेहरू ने समाज-सुधार के उद्वेग से कुछ कहानियाँ लिखी थीं, पर वे उसके आगे न बढ़ सके। भगवती प्रसाद वाजपेयी हिन्दी में काफी कहानियाँ लिख चुके हैं। इनके जीवन और शिक्षा-दीक्षा की स्थिति का ध्यान रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि साहित्य-सेवा की ओर इनकी लगन सात्विक है। वाजपेयी जी के साहित्य में प्रतिभा से अधिक लगन का ही आभास मिलता है। प्रेमचन्द के बाद इस क्षेत्र में आकर वे कहानी-कला की प्रगति में यद्यपि किसी नूतन प्रेरणा का प्रादुर्भाव नहीं कर सके, किसी अभिनव चेतना का संचार नहीं कर सके, तथापि अपनी अलग ज्योति का प्रकाश फैलाने वाले तारकों में ये अवश्य ही सम्मान्य हैं। आज कृतियों की संख्या में वे प्रेमचन्द के ही समकक्ष हैं। अभी उनकी प्रगति जारी है, अतएव उनके उचित स्थान का निर्धारण दूर भविष्य के ही हाथों से सम्भव होगा। यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यदि वाजपेयी जी अपनी भावुकता के कारण भावों की ऊँचाई का प्रयोग अपने व्यक्ति (अहम्) के प्रयोजन से परे रख सकें तो वे कथा-साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। उग्र, जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी ने अवश्य ही कहानी साहित्य में क्रांति लाने का प्रयत्न किया है। इनकी कहानियों में जीवन की नवीन गति तथा दिशा की सूचना मिलती है, जो पिछले सभी कहानीकारों से भिन्न अपनी एक विशेष सत्ता रखती है। उग्र जी हिन्दी साहित्य में एक उल्कापात की भाँति आकर विलीन हो गए, किन्तु यथार्थ का जैसा सचित्र तथा सजीव स्वरूप उनकी कृतियों में मिलता है, वह किसी भी पाश्चात्य यथार्थवादी कथाकार से किसी प्रकार कम नहीं है। उग्र कलाकार जीवन के यथार्थ

की कुरूपता में रस लेने लगता है तब उसकी प्रतिभा पराजित हो जाती है, क्योंकि—अपने मधु में लिपटा भ्रमर गुञ्जन नहीं कर सकता। गुञ्जन के लिये तटस्थता आवश्यक है। काश कि उग्र जी ने सोचा होता कि यथार्थ के आग्रह का आशय यह नहीं कि जीवन के आदर्श की एकदम उपेक्षा कर दी जाय। जो भी हो, उग्रजी की प्रतिभा और लेखनी की शक्ति का हिन्दी साहित्य अब भी कायल है। जैनेन्द्र जी की कहानियों में हृदय-द्वन्द्व की जो सूक्ष्मता तथा मनोवैज्ञानिक प्रगल्भता मिलती है, वह आज भी उनकी अपनी चीज़ है। अन्तस्तल के उद्वेलित तरंगाकुल प्रदेश का ऐसा चित्रण कम ही मिलता है। जैनेन्द्र जी के दर्शन की सघनता और जटिलता एवं कथोचित भावुक कल्पना के अभाव ने उनके कथा-साहित्य को बौद्धिक शुष्कता से जकड़ दिया है। स्वभावतः उनके कथा—प्रवाह में ऊबड़खाबड़पन आ गया है। उनका अनावश्यक विस्तार-प्रेम कभी कभी प्राणों को ऊबा देता है। जैनेन्द्र की कहानियों में हम हृदय की अनुभूति और सहानुभूति की अपेक्षा चिन्तन की चैतन्यता अधिक पाते हैं; कहानियों के लिये यह बहुत उपयुक्त नहीं होता। अभिव्यक्ति एक प्रकार का ऐश्वर्य है, किन्तु जैनेन्द्र की दार्शनिक प्रवृत्ति उनके जीवन-अनुभवों के संग्रह को दीन बना देती है। वे अनुभव तो करते हैं, किन्तु उसे उस रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाते। फिर भी भावों की सच्चाई उनकी सब से बड़ी विशेषता है। कथा-साहित्य में जोशी जी की एक विशेष भाव-धारा है। उनकी कहानियों में मनोभावों का सूक्ष्मतम तरंगाभिघात एवं जीवन के मूल तत्त्वों का विश्लेषण तथा विवेचन, हिन्दी कथा साहित्य में अपनी जगह अकेला है। यदि सच पूछा जाय तो जीवन के बाह्य तथा अन्तर के भाव-प्रतिभावों का तुमुल संघर्ष और उनका सामञ्जस्य जोशी जी की, साहित्य को सबसे बड़ी देन है। पर उनकी कला की यह विशेषता कहानियों के परिमित क्षेत्र में अपना पूर्ण विकास नहीं पाती, क्योंकि

आधुनिक

उसका क्षेत्र सीमित होता है। इसीकारण जोशी जी उपन्यासकार के रूप में अधिक सफल सिद्ध हो रहे हैं।

सन् १६२८-२६ के पश्चात् साहित्य में कहानियों की महत्ता सर्वाधिक स्वीकार कर ली गई। शायद हम लोगों ने यह जान लिया कि विश्व का सब से बड़ा साहित्यिक पुरस्कार कथा-साहित्य को ही अनेक बार दिया गया है, यद्यपि हिन्दी का मंगलाप्रसाद पुरस्कार आज तक इस चेतना से दूर ही है। यहाँ पहुँचकर हम देखते हैं कि प्रायः सभी साहित्यिकों ने कथा को अपनाने की चेष्टा की—और तो और, कवियों ने भी इस ओर ध्यान देना शुरू कर दिया। निराला, सियारामशरण गुप्त, पन्त, भगवतीचरण वर्मा आदि का इधर आना इस बात का साक्षी है। इसी समय अन्य गद्य लेखकों ने भी कहानी लिखने का प्रयत्न किया। श्रीनाथसिंह, सद्गुरुशरण अवस्थी तथा श्रीराम शर्मा का नाम लिया जा सकता है। निराला की कहानियों में व्यक्तिगत भावुकता तथा परिहासात्मक व्यंग की बहुलता रहती है, क्योंकि निराला कवि पहले तथा कहानीकार बाद में हैं। 'चतुरी चमार', उनकी एक प्रौढ़ और प्रगतिशील रचना है। सियारामशरण की कहानियों में भारतीय जीवन के प्रधान प्रवृत्तियों का उल्लेख तो है, किन्तु जीवन की विविधता की पकड़ उनमें नहीं है। पन्त के साहित्य का क्षेत्र ही कल्पना-प्रधान है। उनकी कल्पना की कोमलता ने कथा-साहित्य के ठोस वातावरण में अपना विस्तार नहीं पाया। ठीक भी है—'सिरस सुमन किमि बेधिय हीरा'। भगवतीचरण वर्मा प्रारम्भ से ही एक उथले विद्रोह के उद्भावक हैं। उनकी कहानियों में जीवन की वह ज्वाला है जो जलाने के साथ-साथ कुछ प्रकाश भी देती है। मांस में मिर्च के तीखेपन की तरह लोगों को उनकी कहानियाँ पसंद आती हैं। श्रीनाथसिंह की अनेक कहानियों में अच्छी-बुरी सभी तरह की कहानियाँ हैं।

आधुनिकतम कहानीकारों में कुछ ने बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखने में पर्याप्त सफलता पाई है। वीरेश्वर, रामपुरी, अज्ञेय, पहाड़ी, यशपाल, ब्रजमोहन गुप्त उषादेवी मित्रा, सुशीला आगा और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा इनमें प्रमुख हैं। सुमित्रा-कुमारी सिनहा की कहानियों में जीवन की दिशा का उतना निर्देश नहीं जितना उसकी नम्रता का निरूपण है। इन लेखकों से अज्ञेय की प्रतिभा अलग है। पुराण-पंथी और सामाजिक रूढ़ियों के मूलोच्छेदन का स्वर इनकी कहानियों का केन्द्र-बिन्दु सा मालूम पड़ता है। लेखक की कृत्रिम क्रान्ति की कर्कशता में रमणीयता का स्वर कुछ दब जाता है और कहीं कहीं तो पूरा वातावरण भी विदेशी सा लगने लगता है, किन्तु इनकी कहानियों की प्रेरणा कलात्मक होती है, इसमें सन्देह नहीं है। नवयुवक कहानीकारों में 'पहाड़ी' का विशेष स्थान है। 'सस्पेन्स' की सुन्दर आभा और कथानक की रोचकता पहाड़ी की कहानियों में बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है, इनकी भाषा कभी-कभी अस्वाभाविक प्रान्तीयता का पाल सँभालने में पड़ जाती है। यों पहाड़ी में प्रतिभा और जागरूकता की कमी नहीं है। यशपाल की कहानियाँ श्रमजीवियों की बौद्धिक ममता से ओत-प्रोत हैं। यदि इस प्रवृत्ति को वे अपनी संवेदना से सप्राण कर सकें तो उनकी कहानियों की महत्ता की सम्भावनाएँ सहज ही साकार हो उठेंगी।

हिन्दी का कहानी साहित्य उत्तरोत्तर वृद्धि करता जा रहा है, यह बहुत ही शुभ लक्षण है। भारत के साहित्य में स्त्रियों का अधिक सहयोग कभी नहीं रहा। यद्यपि छायायुग को अवश्य ही कुछ देवियों ने अपनी उदार करुणामयी सहानुभूति दी थी, किन्तु आज कहानी क्षेत्र में अनेक महिलाएँ आगे बढ़ रही हैं। सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों का घरेलू वातावरण हिन्दी की मूल्यवान निधि है। तेजरानी पाठक, कमलादेवी चौधरी, होमवती, सत्यवती मलिक आदि लेखिकाएँ कहानी-साहित्य की अच्छी सेवा कर रही हैं। काव्य की भाँति

आधुनिक

'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखायें' द्वारा महादेवी वर्मा ने कथा-साहित्य को कुछ नये सुन्दर रत्न दिये हैं। समाज के पीड़ित, उपेक्षित वर्ग के प्रति ममता का जो स्वरूप उनके संस्मरणों (कहानियों) में पाया जाता है वह शरद् को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकता। कहानियों में प्रगति का सच्चा स्वरूप उपस्थित करने का श्रेय श्रीमती वर्मा को ही है। इसके पहले कहानीकारों ने निम्न वर्ग के इन प्राणियों को अपने साहित्य में, इस रूप में नहीं अपनाया था। जीवन का यह कठोर सत्य उनकी कविता में स्थान न पा सकने के कारण यदि संस्मरणों के रूप में सामने आ गया तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। 'नींव की ईंट' की लेखिका चन्द्रावती ने कुछ सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें स्त्री-हृदय के वात्सल्य का समुचित निदर्शन और संसार के प्रति एक सहानुभूतिमय दृष्टिकोण का सारगर्भित स्पष्टीकरण है।

इसी प्रकार अन्य बहुत से लेखक एवं लेखिकाएँ अपना सहयोग कथा-साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। मध्ययुग में काव्य की भाँति आधुनिक युग में कहानी-साहित्य का ही नाम साहित्य पड़ गया है। बहुत दिन के बाद हिन्दी में जीवनमय साहित्य का यह प्रथम प्रारम्भ है, इसे स्मरण रखना होगा।

उपन्यास

संस्कृति, सभ्यता और साहित्य एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखायें हैं, जो विविध आकार-प्रकार के साथ विविध दिशाओं में फैली होती हैं। इनकी उत्पत्ति, विकास और दिशा की कारणभूत इकाई का आधार वृक्ष ही होता है—और यह वृक्ष है जीवन। जीवन-वृंत के अंकुरों से इन शाखाओं का स्वरूप बनता है। मातृ-वृक्ष की भाँति जीवन-वृंत से रस की धार उद्‌भूत होती है, उसी रस से इन शाखाओं के अंग विकसित और परिवर्धित होते हैं। अतएव संस्कृति के कर्णधार का, सभ्यता के शिल्पी का और साहित्य निर्माता का सब में पहला और आवश्यक अन्वेषणीय तत्व जीवन है। जीवन की गाँठ-गाँठ में सन्निहित सत्य को, उसकी गति में पग-पग पर विजड़ित परिवर्तन को तथा इन दोनों के विरोधाभासी संघर्ष को आत्म-संयम से पर्यवेक्षण करना ही कलाकार का मूल ध्येय है।

कला मूक उदासीनता की पाषाण प्रतिमा नहीं है। वह तो जीवन-स्फूर्ति से अनुप्राणित, अनुभूति से आकुल और विकास अभिलाषा से आतुर सौन्दर्यशील एक बँधी कुसुम-कली है, जो चेतना से संचालित और भावना से स्पन्दित, जीवन के साथ साथ गतिशील रहती है। जीवन और जगत के समवेदनीय स्पर्श से इसे अभिव्यक्ति का वरदान मिलता है, जिसे हम कला के नाम से जानते हैं। अभिव्यक्ति और प्रयास-प्रदर्शन में ही कला की साध निहित रहती है। जीवन के परिज्ञान और पर्यवेक्षण के पश्चात् कलाकार का हृदय इस घनीभूत प्रभाव-पुंज को अपनी अभिव्यक्ति-द्वार-साकार स्वरूप देने को उत्सुक हो उठता है। साहित्य-क्षेत्र में नाटक, महाकाव्य तथा

आधुनिक

उन्पयास ही ऐसे उपकरण हैं जहाँ सामूहिक मानव-जीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्तनाओं के साथ सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो सकता है।

अभिव्यक्ति की उपर्युक्त तीन प्रणालियों में उपन्यास आधुनिकतम है, और अधिक प्राकृतिक तथा सहज-सरल भी। नाटक में पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये नाट्य-कला सम्बन्धी अन्य अनेक उपादानों की आवश्यकता पड़ती है, महाकाव्य में जीवन-अनुभूति के सम्पूर्ण चित्र, बिना काव्यांगों के पूर्ण ज्ञान के नहीं ग्रहण किये जा सकते क्योंकि वे न तो इतने प्राकृत होते और न उनकी अपील ही इतनी सीधी होती। महाकाव्य की अनेक अनुभूतियाँ केवल कलाकार के लिये स्वसंवेद्य बन कर रह जाती हैं किन्तु उपन्यास सदैव पर-संवेद्य होता है। उपन्यास यदि खोद कर बनाया गया एक जलाशय है तो महाकाव्य एक स्वतस्फूर्त झरना। सम्भवतः आवश्यकता के अत्याचार के सामने नतमस्तक होना काव्यकार अपनी हीनता समझेगा किन्तु उपन्यासकार उसे अपनी सहनःशीलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मान सकता।

कवि, गीत-धर्मी होने के कारण व्यक्ति स्वातंत्र्य का उपासक होता है किन्तु उपन्यासकार बाहर के सामाजिक-बोध की अधिक चिन्ता करता है। कभी कभी कवि की बुद्धि और उसकी अनुभूति में संघर्ष भी सम्भव है परन्तु बुद्धि और अनुभूति का, व्यक्ति स्वातंत्र्य और समाज-बोध का समन्वय उपन्यासकार की साधना का सब से बड़ा सुख है। कवि का जीवन आत्मनिष्ठ होता है और वह अपनी इस भाव परम्परा के आवेश में भूल जाता है कि वह समाज जीवन का एक अंश मात्र है। बौद्धिक निरीक्षणों और वैज्ञानिक अनुसन्धानों से उपन्यासकार इस बात को जानता है कि व्यक्ति-चेतना वास्तव में समाज-चेतना से अपना अलग अस्तित्व नहीं रख सकता, अतएव वह अपनी व्यक्ति-चेतना को सदैव समाज-चेतना की सम्पूर्णता, विशाल वास्तविकता की ओर खींच ले जाने की चेष्टा करता

है जहाँ कवि व्यक्तिसत्ता और समाज-सत्ता के द्वन्द्व में उलझ जाता है वहाँ उपन्यासकार समाज-सत्ता को स्वीकार करके आगे बढ़ जाता है। समाज-बोध को भुलावा देकर कवि का अनुभूतिमय साधक अथवा रहस्यवादी बनना आवश्यक हो जाता है और उपन्यासकार सामूहिक और वृहत्तर जीवन सत्ता को स्वीकार करता हुआ जीवनवादी हो उठता है। आधुनिक युग, व्यक्ति स्वातंत्र्य की सीमा को पार कर मानव-महा-समाज के स्वातंत्र्य का पक्षपाती हो गया है; कवि जैसे उपन्यासकार बन गया है। यही कारण है कि आज कल महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास का महत्व अधिक बढ़ गया है। व्यक्ति-बोध ने विश्व-बोध का रूप धारण कर लिया है।

अपने आराध्य के प्रति आकर्षण न रखने वाले के प्रति महाकवि तुलसी की भाँति आज कोई सूकर, श्वान का प्रयोग नहीं करता क्योंकि आज के साहित्यकार का, संसार की विविधता विषयक परिज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। आज का साहित्यिक केवल कल्पना लोक में विचरण नहीं करता वरन् वह अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविकताओं के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता है। साहित्य और समाज के बीच का कृत्रिम व्यवधान प्रतिदिन क्षीण पड़ता जाता है और लोग अब, साहित्य का भी सामाजिक मूल्याँकन करने लगे हैं। साहित्य तो जीवन की व्याख्या है और जीवन किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष का न होकर विश्व-व्यापक होता है। इसलिये साहित्यकार को अपनी कृतियों का आधार और उपादान जीवन को ही बनाना पड़ता है। साहित्य-सृजन की मूल-प्रेरणा जीवन से ही मिलती है, इसके बाहर उसका कोई कहीं अस्तित्व नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कथासाहित्य ने इस ओर अपना कदम बढ़ाया है।

कथा की सृष्टि बुद्धि और भावना के योग से होती है; अनागत जीवन की स्थूल तथा सूक्ष्म वृत्तियों की संगति और सामञ्जस्य का

आधुनिक

यह सब से सुन्दर और स्वस्थ साहित्यिक माध्यम है। इसमें जीवन के किसी अंश की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि यह सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है। साहित्य के अन्य अंगों में हमें जीवन की पूर्णता न मिलकर उसके चित्र की रंगीनता ही अधिक मिलती है, परन्तु चित्र तो वस्तु की बाह्य रेखाओं की सीमा से सीमित होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ प्रत्यक्ष है, स्थूल है वही जीवन नहीं, इसके परे एक मानसिक जीवन की भी गति है, भौतिक विकास के साथ चेतना का अटूट क्रम भी अपना अलग महत्व रखता है। इन्हीं द्वैतात्मक वृत्तियों का साधनाशील संश्लेषण उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। जीवन के इस दोहरे स्वरूप को देखकर एक प्रश्न सामने उपस्थित होता है। जीवन का चित्रण साहित्य में किस प्रकार किया जाय? जीवन की स्थूल नग्न वास्तविकताओं को कला के कमनीय आवरण में ढँक कर साहित्य में उपस्थित किया जाय अथवा जीवन के अस्त-व्यस्त मौलिक रूप को संयोजित और संगठित करके साहित्य में स्थापित किया जाय? इसे यथार्थ और आदर्श के प्रश्न का रूप भी दिया जा सकता है। इस विषय में मेरा निश्चित मत है कि यथार्थ की स्पष्टता और कला पक्ष की कान्तिमत्ता दोनों के सहयोग के बिना कोई भी साहित्यिक सृष्टि, विशेष कर उपन्यास सृष्टि सम्भव नहीं हो सकती। मनुष्य के चर्म आवरण से ढके शरीर के भीतर माँस-मज्जायुक्त जो कंकाल है, वह जीवन का घोर यथार्थ है पर साहित्य में केवल उसी की आवश्यकता नहीं। वहाँ कंकाल को दबाये चर्मावरण से युक्त मनुष्य भी अपना स्थान और अपनी स्थिति रखता है, क्योंकि साहित्य में साहित्यकार की आत्म-अभिव्यक्ति कला का आनयन करती है। भावात्मक उच्चता की उड़ान में, आदर्शात्मक तथा बौद्धिक विभिन्नता की विकलता में, यथार्थात्मक विभेदों के द्वारा कला अपना स्वरूप सँभालती है।

आदर्श और यथार्थ कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रकार मात्र हैं, स्वयं कला नहीं। आदर्शात्मकता की ओट में कोरी कल्पना की अस्वाभाविक उपस्थिति उतनी ही भयावह है जितनी यथार्थात्मकता के नाम पर निरी नग्नता का चित्रण। यथार्थ की आदर्शात्मक अभिव्यक्ति ही कला की संज्ञा पाती है। इस कारण यथार्थ की जीवनदर्शिता और आदर्श का सहज सम्भाव्य आग्रह लेकर चलना ही साहित्यकार के लिये श्रेयस्कर है। इस सामञ्जस्य को छोड़ कर साहित्यकार सफल नहीं हो सकता क्योंकि आदर्श के नाम पर भावुकता के स्वाभाविक सम्बल से जीवन के वास्तविक जटिल संघर्ष से दूर भग कर अथवा यथार्थ की आकुलता में जीवन के प्रकाशमय पहलू की उपेक्षा कर के साहित्य सृजन सम्भव नहीं। साहित्य कभी जीवन के उल्लास से उदासीन और उसके विषाद से विचलित नहीं होता। वह दोनों की सुसंगति का समर्थक है।

सच्चा कलाकार वही है जो जीवन की कठोरता के प्रति उदार और कोमलता के प्रति आकर्षणशील है, वह एकान्त रागी या विरागी नहीं हो सकता। यथार्थ और आदर्श के प्रति यह विवेक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक है अन्यथा किसी प्रकार की व्यवस्था का निरूपण ही न हो सकेगा। साहित्य में यथार्थ कलाकार के सहज स्वभाव का परिचायक और आदर्श उसके सौन्दर्य-बोध का अभिभावक होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कला की चरम सार्थकता एक हृदय के भावों तथा विचारों को दूसरे हृदय के भावों एवं विचारों तक पहुँचाने में है। आदि युग से आज तक मनुष्य इसी प्रकार एक दूसरे के विचारों से परिचित होते आये हैं। कथा, शायद इस प्रकार की सब से प्रथम और अन्तिम कला है। संसार-साहित्य का आधार कहानियां ही हैं। इस दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास में कथा-साम्य के साथ कुछ अन्तर भी है, यद्यपि दोनों का उद्गम एक ही है—जीवन की मार्मिकता।

कहानी, यदि भावना और कल्पना से जीवन को गति देती है तो उपन्यास उसे चिंतन की चेतना से चलाता है। कहानी जीवन के एक भाव की उद्भावना है तो उपन्यास उसकी भाव-समष्टि की व्याख्या, दोनों का पथ एक है ध्येय एक है, गति एक है क्योंकि दोनों जीवन के ही पथ पर चलते हैं, किन्तु कहानी जीवन की एक मनोरम झांकी है, दृष्टिबिन्दु का एक स्नैप है तो उपन्यास उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा। कहानी जीवन के किसी एक भाव, विचार अथवा अवस्था, की अभिव्यक्ति है किन्तु उपन्यास जीवन की समस्त भावनाओं, विचारधाराओं और अवस्थाओं का साथी है। अस्तु यह भी कहा जा सकता है कि कहानी और उपन्यास की सहेतुक मूलगत एकता के साथ दोनों के उद्देश्य, वर्णन प्रणाली, रचना कौशल, और जीवन के स्वरूप को लेकर उतना ही अन्तर है जितना उनके आकार-प्रकार का। दोनों की अलग-अलग विशेषता और विशिष्टता है।

भारत में उपन्यास लिखने की प्रथा पुरानी नहीं है। सम्भवतः किसी भी भाषा में उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन नहीं। उपन्यास का मूलतः अंग्रेजी शब्द 'नॉवेल' १४६० से अंग्रेजी में प्रयुक्त होने लगा है। यदि भारतीय, बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के उपन्यास होने का दावा छोड़ दें तो यहाँ उपन्यासों का विकास आधुनिक युग का ही वरदान माना जायेगा। यद्यपि विश्व-साहित्य में उपन्यास का बीज वपन मुरासकी शोशिकीबू जापानी महिला द्वारा १००० में ही कर दिया गया था किन्तु उपन्यासों की समुचित महत्ता का पता १८वीं शताब्दी तक नहीं चला। उपन्यास के अचानक विराट रूप धारण कर लेने के समय का श्रेय १९वीं शताब्दी को ही मिलना चाहिये। जो भी हो, हमारा सम्बन्ध विश्व-साहित्य की ऐतिहासिक छानबीन से उतना नहीं जितना हिन्दी साहित्य से है।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क और

अनेक आन्दोलनों की उद्भावना से नवयुग का आविर्भाव हुआ। हमारा साहित्य भी नवीन भावधारा के प्रवाह में प्रवाहित हो चला। गद्य-साहित्य की आशातीत उन्नति हुई, हिन्दी-उपन्यास इसी युग की सृष्टि है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन की सम-विषम परिस्थितियों द्वारा उपन्यास के स्वरूप का सर्व प्रथम ढाँचा बना, यों तो इसके भी पहले कई उपन्यासों के लिखे जाने का पता चला है पर अभी तक श्री निवासदास लिखित 'परीक्षागुरू' हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक हिन्दी का सर्व प्रथम अनुवादित सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किया। कथानक में रूढ़िवादी और प्रगतिशील विचारों के संघर्ष प्रदर्शन के पश्चात् प्रगति की विजय होती है। साहित्य के [illegible] क्षेत्र में भी भारतेन्दु के नेतृत्व में उपन्यास साहित्य [illegible] शोरी लाल गोस्वामी देवीप्रसाद शर्मा तथा गोपालराम गहमरी की सेवा इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

उस समय के उपन्यासों में शिक्षा और नैतिकता की अधिकता के सिवा और कुछ नहीं है, किन्तु उस समय उसी का मूल्य था इसे स्मरण रखना होगा। उपन्यास साहित्य में शुद्ध भारतीय विचारधारा के साथ फारसी की जादूभरी वासनामय कहानियों का प्रभाव भी पड़ता चला गया और लोग बाग तिलस्मी सीसमहल, ऐयारी, प्रेम और काल्पनिक शौर्य की ओर अधिक आकर्षित होने लगे। देवीकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को चरमोत्कर्ष मिल गया। तिलस्म के सहारे घटना वैचित्र्य उनके उपन्यासों की रीढ़ है। खत्री जी के पास मानव चरित्र-चित्रण और भाव-व्यञ्जना का कोई महत्त्व नहीं है किन्तु घटनाओं के संगठन में वे अद्वितीय हैं। उनकी देखादेखी हिन्दी में तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई।

आधुनिक

बंगाल में नई शिक्षा के प्रभाव का प्रचार बहुत पहले हो गया था, देशकाल के अनुसार वहाँ का साहित्यिक-दृष्टिकोण भी कुछ अधिक विस्तृत और व्यापक बन गया था। नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों की रचना का सूत्रपात वहाँ हो चुका था किन्तु हिन्दी में अभी, केवल मनोरंजन का प्राधान्य था। साहित्य मर्मज्ञ अनुवादों के द्वारा अपनी क्षति-पूर्ति करने में जुट गये। बंगला के अलावा संस्कृत, उर्दू तथा अँग्रेज़ी आदि भाषाओं की रचनाओं के भी अनुवाद किये गये। कतिपय अनुवादों को छोड़कर यद्यपि इस काल की औपन्यासिक रचनाओं को प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता, तथापि यह भी सच है कि बीज मिट्टी में मिलकर ही भावी वृक्ष का अंकुर बनता है।

उपन्यास कला का आधुनिक विकास उसमें जीवन की विवेचना और मनोविज्ञान की स्थापना से हुआ। अब तक के उपन्यासों में मानव-जीवन की संघर्षमयी विरोधी प्रवृत्तियों के सुझाव का कार्य, संयोग या दैवी घटनाओं से ही होता था किन्तु धीरे-धीरे उसमें वास्तविकता और मनोवैज्ञानिक तत्त्व का समावेश होने लगा। लोग समझने लगे कि जीवन की गतिविधि का संचालन किसी अज्ञात शक्ति द्वारा नहीं वरन् मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क से होता है। शरच्चन्द्र और रवीन्द्र ने मनोवैज्ञानिक चित्रण और विश्लेषण की उपन्यासों में प्राण-प्रतिष्ठा की। वैज्ञानिक सभ्यता के प्रचार के साथ-साथ लोगों को अपने मस्तिष्क और हृदय की स्वाभाविक क्षमताओं का भी पता चला और उपन्यास-साहित्य मानव जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में आदृत होने लगा।

सच्चाई के इस आग्रह से लोगों के भोलेपन को ठेस लगी, वे जगे और जीवन-जगत् की ओर सतर्क दृष्टि से देखना शुरू किया। वैदिक गाथाओं, पौराणिक जातक कथाओं और कोमल कल्पनाओं से उनकी मुठभेड़ सम्भव थी और हुई; क्योंकि भारतीय साहित्यकार यहाँ पहुँच कर विश्वासी की अपेक्षा संशयवादी अधिक हो उठा। कोरी कल्पना की कलामयी कल्पना

की छलना से वह ऊब उठा, अन्धविश्वासों की आस्था के प्रति वह विद्वेषी बन गया और उसने उपन्यास में जीवन की पूर्णता का वैज्ञानिक श्रृंगार किया। वास्तव में यहीं से आधुनिक उपन्यास साहित्य का आरम्भ होता है। उपन्यासों में कथानक के भीतर चित्रण तथा वर्णन की प्रणालियाँ परिवर्तित हो गईं और इन दोनों की संगति के सहज-सौन्दर्य ने उपन्यासों के उच्चतम कलात्मक रूप को एक सशक्त संजीवन दे दिया। उपन्यास का कथानक, अब केवल लेखक का वक्तव्य न होकर श्रोता और वक्ता का मध्यस्थ बन गया। वर्णन, जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल और स्वाभाविक होने लगा। वाणी ने वातावरण आछन्न करना शुरू कर दिया। समय ने स्थिति और स्थिति ने भावावेश का पल्ला पकड़ा। बुद्धि ने हृदय का साथ लिया और उपन्यासकार आगे बढ़ चला। मनोवैज्ञानिक चित्रण ने उपन्यास की व्यापकता को बहुत आगे बढ़ा दिया। रंगभूमि में मानव मस्तिष्क और हृदय का विश्लेषण इस बात का सुदृढ़ साक्षी है। आगे चलकर इस शैली ने जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय में अपना सहज विकास पाया।

गत महायुद्ध के बाद से साहित्य में, खासकर उपन्यास में मनोविज्ञान का आग्रह इतना बढ़ा कि लोगों को उसकी सच्चाई के प्रति सन्देह होने लगा। जीवन की किसी दिशा की गति का निरूपण कभी केवल बुद्धि या हृदय से नहीं हो सकता, इसके लिये दोनों के समन्वय की आवश्यकता होती है फिर भी मनोविज्ञान के आधिक्य ने हानि की अपेक्षा लाभ ही पहुँचाया है। 'प्रेमाश्रम' इसका उज्ज्वल उदाहरण है। इलाचन्द्र जोशी की कृतियाँ इस विकास की सीढ़ियाँ हैं। हिन्दी उपन्यासों में संभाषण का विकास अपेक्षाकृत देर से हुआ किन्तु वार्तालाप के द्वारा चरित्रों के स्वाभाविक विकास की सम्भावनायें सचेत हो उठीं और कथा का प्रवाह स्निग्ध हो गया। 'कौशिक' जी के 'माँ' नामक

आधुनिक

उपन्यास में वार्तालाप का अच्छा निर्वाह है। सम्भाषणों द्वारा चरित्रों के अन्तर्दर्शन ने मनोविज्ञान के साथ स्थूल और सूक्ष्म को, यथार्थ और आदर्श को, विज्ञान और कला को, व्यक्ति और समाज को तथा भाव और क्रिया को जीवन की व्यञ्जना में एक कर दिया और उपन्यास की कथाशैली का पूर्ण विकास हुवा।

एक विभिन्न आत्मकथात्मक शैली रवीन्द्र के 'घर और बाहर' के समान हिन्दी में अपना एकान्त पोषण पाती रही। 'घृणामयी' का कथानक उत्तम पुरुष के माध्यम से संचरित होता है। 'सन्यासी' हिन्दी उपन्यासों में इस कला की केवल मात्र सफल कृति है। इस शैली का एक अपना दोष भी है। विशेष कर जब लेखक तटस्थ नहीं रह पाता, तब यह दोष ऊपर उभर आता है। कई पात्रों की कथाओं के सम्मेलन से कथानक का स्वरूप सामने आता है और प्रायः पाठक उसे सँजो नहीं पाता, कथानक की सहज सुगमता में बाधा पड़ती है। 'मैं' की ममता का भी डर बना रहता है, अन्यथा पात्रों की स्थूल से स्थूल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं के चित्रण के सहारे उनका चरित्र-चित्रण अपनी चरम सीमा को छू लेता है, यह निर्विवाद है। 'सौन्दर्योपासक' तथा 'कलंक' इस दिशा के पराजित प्रयास हैं। प्रसाद ने रवीन्द्र की काव्यात्मक शैली के निर्वाह की 'कंकाल' में सफल चेष्टा की है। यह उपन्यास विचारों और अभिव्यक्ति की अवस्थाओं में उपन्यास-कला की अपेक्षा काव्य-कला के अधिक निकट है।

उपन्यास के इस बहुमुखी प्रयास ने कहीं नहीं छोर पाया। पत्रों और डायरी के पन्नों द्वारा उपन्यास के स्वरूप-निर्माण का प्रयोग किया गया। क्रम से 'चन्द हसीनों के खतूत' और 'अंगिरा-लग्न' इस शैली में आते हैं। इन्हीं कृतियों से इस प्रकार का आदि अन्त दोनों हुआ।

शैली विशेष का बिना मूल्यांकन किये हुये उपन्यासों की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई और धर्म तथा समाज के ठेकेदारों ने भी

अपने सिद्धान्तों के प्रचार का साधन-उपन्यास को बनाना चाहा। आर्यसमाजिओं के उपदेशात्मक उपन्यासों का स्मरण यहाँ आवश्यक है। समाज-सुधारकों ने भी उपन्यासों के द्वारा सामाजिक विपन्नताएँ और उनके सुझाव सामने रखे। भारतीय समाज की दासता-जन्य विकृत परिस्थितियों को सब से अधिक औपन्यासिक सहानुभूति मिली। इससे अधिक व्यापक उद्देशों के प्रति जनता धीरे-धीरे अपने आप उन्मुख हो चली और उपन्यास का, जीवन के किसी स्तर के माध्यम से लोक-कल्याण की सामूहिक भावना का विस्तार बढ़ने लगा। रैफेल चित्रकार का कथन यहाँ उल्लेखनीय है—"सत्य की खोज में जब लोग मन्दिर में गये तब पुजारिन ने पीने को (चरणामृत की जगह) उन्हें एक प्रकार की मदिरा दी। वह किसी को मीठी किसी को कड़वी तथा किसी को खट्टी तीखी लगी। मदिरा वही थी किन्तु उसका स्वाद भिन्न-भिन्न था। इसी प्रकार कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है"। कला का हेतु क्या है? यह आज भी विवाद के परे नहीं है, अस्तु कला उपयोगिता के लिये अथवा कला कला के लिये के विवादों में पड़ना व्यर्थ है। इस विषय को लेकर विश्व-साहित्य में काफी विवाद हो चुका है, निष्कर्ष रूप में कला और जीवन का योग सभी ने माना है और जीवन अपनी उद्देश्य हीनता में संसार का कोढ़ बन जाता है।

अतएव आज कला की सहेतुकता से किसी का कोई मतभेद भी सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण मानवता की कल्याणकारी मार्क्सवादी भावना ने इस सत्य को अधिक समीप ला दिया है। मार्क्स और फ्रायड ने मानव जीवन की सुचारुता का सब से सुन्दर सन्देश दिया है। आधुनिकतम उपन्यास इन दोनों जीवन-द्रष्टाओं के दृष्टि कोणों के समन्वय के द्वारा सम्पूर्ण मानवता को कल्याण-पथ पर आरूढ़ करने की महत्त्वाकाँक्षा से महिमान्वित है। जीवन की सजीवता और विषय विकास की स्वाभाविकता उसके कला की सब से बड़ी साख है।

आधुनिक

एक बात और। फ्राइड के नाम में कुछ अजब सा जादू है, लोग उसे सुन कर या तो नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं या उसकी निन्दा ही शुरू कर देते हैं। यह ठीक नहीं। जीनव के सारे व्यापार कामना ही के स्वरूप हैं। वैराग्य अनुराग का ही दिशा भेद है। काम-मनोविज्ञान के आचार्यों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि संसार के सारे व्यापार काम-वासना के संकेत पर ही संचरणशील बनते हैं। भारतीय विचार-धारा ने भी इसको बहुत पहले से स्वीकार कर रखा है। प्रकृत्ति और पुरुष के सम्मेलन से सृष्टि की उत्पत्ति मान लेने पर काम-प्रवृत्ति की मान्यता अपने आप अपनी स्वीकृति पा लेती है। उपनिषद् के सारगर्भित शब्दों को हम भूल नहीं सकते—'एकाकी ना रमत आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चभवत्'। अंग्रेजी कवि कूलरिज का भी कहना है—

जीवन को गति देने वाले सभी भाव, विचार और उद्वेग प्रेम की आधारभूत मनस्थिति के ही परिणाम हैं।

वास्तव में काम प्रवृत्ति इतनी व्यापक और तीव्र होती है कि संसार के कार्य-कलाप से इसका सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया जा सकता। संसार में जो कुछ है, वह काम की चेष्टा का ही परिणाम है। वैदिक द्रष्टा ने भी कहा है—'काममय एवायं पुरुषः'। भावों की व्यवस्था के लिये काममय होना अनिवार्य है। चित्त रूप वृक्ष के दो बीज हैं एक प्राण स्पन्दन और दूसरी वासना। इन दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दूसरा स्वतः नष्ट हो जाता है। अतएव जो निष्काम है वह निष्क्रिय है। इतना होते हुये भी यह स्मरण रखना होगा कि इस प्रवृत्ति का दुरप्रयोग मनुष्य के विनास का कारण होता है। जिस अग्नि से उष्णता और प्रकाश मिलता है वह मनुष्य को भस्म करने की भी क्षमता रखती है। साहित्य में फ्रायड के इस सिद्धान्त के नाम पर कुछ बहुत ही गंदी चीजें सामने आ रही हैं, उनसे सावधान रहने की अतीव आवश्यकता है। काम तथा वासना का संकुचित अर्थ मनुष्य को पशु

से ऊपर नहीं उठने देगा, यह मेरी दृढ़ धारणा है। आधुनिकतम उपन्यासों में इस व्यापक सत्ता की विकृति के बाहुल्य से बड़ा खेद होता है।

जो भी हो, बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ हिन्दी-साहित्य के नवीन जागरण का प्रारम्भ है। इस समय से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन स्फूर्ति, नवीन आशा और नवीन उद्देश्य का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्य-क्षेत्र में भी नवीनता का आभास मिला। कला का उद्देश्य जीवन को सुखद बनाना बन गया। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति, अब कला को केवल कला की दृष्टि से न देख कर उसके माध्यम से जीवन और उसकी सामूहिक समस्याओं का भी विचार करने लगे। इस नवीन जागृति के परिणाम-स्वरूप, साहित्य और कला में वास्तविकता की भावना का तीव्र गति से समावेश होने लगा। फिर भी जीर्णप्राय साहित्य के प्रति कुछ लोगों की ममता बनी रही। इन लोगों ने केवल अपनी प्रवृत्तियों के प्रकाशन की चिन्ता की, जीवन के उद्देश्य और उसकी उपयोगिता का मूल्य उन्होंने नहीं माना किन्तु ऐसा साहित्य निकम्मा, दुर्बल, पंगु और अस्वस्थ बनता गया, और समय की कठोर परीक्षा में अपने आप असफल सिद्ध हुआ। स्वाभाविक भी यही था क्योंकि साहित्य का उद्देश्य उन्नत वातावरण पैदा करना है। उस वातावरण को सुचारु रूप से संचालित करना ही कला की सिद्धि है। सम्पूर्ण मानव-समाज उस कला का साधन मात्र है।

विश्व-जीवन का प्रतिपल युद्ध का एक एक आघात है, संघर्ष का स्पन्दन है। साहित्य के हर अंग और कला के प्रत्येक अंश को जीवन की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखना ही उसकी सार्थकता है। विश्व की इस विचार-क्रान्ति का स्वागत और जीवन में उसकी स्थापना, तथा उपन्यास साहित्य में उसकी उद्भावना का श्रेय स्वर्गीय प्रेमचन्द को है। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा महर्षि टालस्टाय के,

"कला मानव-समाज की एकता का साधन है। उसका उद्देश्य है जन सामान्य को एक भावना से उन्नति के पथ पर अबाध्य रूप से एकत्र कर देना ताकि व्यक्ति और मानव-समाज दोनों का कल्याण हो" इन शब्दों को साकारता देने की आजीवन चेष्टा की है, इसे कौन नहीं जानता ?

प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य की आधुनिकता के अग्रदूत हैं। गत महा-युद्ध के बाद जीवन के आकस्मिक परिणामों के ठोकर से जागकर रक्त-स्वच्छ पृथ्वी में उन्होंने नवीनता का बीजारोपण किया और जीवन तथा जगत की अव्यवस्था-जन्य स्वस्थ मनोवेदना द्वारा भारतीय समाज को जीवनी-शक्ति दी। विश्व-जीवन की मुक्ति का प्रयास उनमें नहीं किन्तु राजनीति में गाँधी की भाँति साहित्य में उन्होंने राष्ट्र-जीवन के बन्धन को ढीला किया। अतीत की अतिशयता पूर्ण कल्पना और भविष्य की आशामयी सम्भावना का छोर छोड़कर जब कलाकार वर्तमान की वास्तविकता के प्रति आकर्षित होता है, तब उसका साहित्य अपने समय का स्वच्छ दर्पण बन कर सामने आता है। प्रेमचन्द की कृतियाँ उनके युग की सच्ची और स्पष्ट सूचनायें हैं। अतीत के आँचल की ओट से अपनी आधुनिक उपस्थिति देने वाले 'प्रसाद' को भी अपने समय की समस्याओं की विदग्धता पर मुग्ध होना पड़ा था। उनके उपन्यास इस बात का संकेत करते हैं, किन्तु उनकी दिशा प्रेमचन्द से भिन्न है।

अँग्रेजी शिक्षा के निकट संपर्क में आने वाले कतिपय नवयुवकों ने द्विवेदी युग में रहते हुये भी अपने साहित्य को उससे भिन्न रखा। जिस प्रकार काव्य में गुप्त जी की राष्ट्रीयता के परे प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी का स्वतंत्र विकास सम्भव हो सका उसी तरह प्रेमचन्द-की सामयिकता से तटस्थ रहकर कथा-साहित्य में भी, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती

चरण वर्मा तथा अज्ञेय आदि अपनी स्वतंत्र प्रेरणाओं को परिवर्धित करते रहे। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में गाँधी का दर्शन दिया तो इलाचन्द्र ने मनोविज्ञान का। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने मध्ययुग की भावुकता में आधुनिक पालिश चढ़ाई तो भगवती चरण वर्मा ने उसमें व्रासो की चमक ला दी। निराला और जैनेंद्र ने भारतीय-दर्शन को व्यावहारिकता दी तो अज्ञेय ने स्नेह की स्पष्टता। वृन्दावन लाल वर्मा का इतिहास और साहित्य का समन्वय अपने ढँग का अकेला है, जैसे प्रसाद के नाटकों का। बंग-भंग के बाद अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित क्रान्ति की भावना ने भी साहित्य में अपने मनतव्य का प्रकाशन पाया है। यशपाल इसके अगुवा हैं, किन्तु क्रान्ति की अपेक्षा यौवन की उष्णता के वे अधिक निकट हैं।

एक ही राष्ट्र के भीतर विभिन्न जीवन-स्रोतों की भाँति कथा-साहित्य की बहुमुखी अभिनव प्रेरणायें पनपती जा रही हैं और उपन्यास अपना सात्विक तथा शाश्वत निखार पा रहा है। आज कथाकार, जीवन-व्यापी संघर्ष की कठोरता, जीवन की अन्तप्रर्वृत्तियों की विविधता और वातावरण तथा परिस्थितियों के प्रभाव से विकसित मनोविकारों की मार्मिकता का अनुभूत उद्घाटन करके सम्पूर्ण मानवता के लिये कल्याण का मार्ग मुक्त कर रहा है। वह जानता है कि उसकी रचना जीवन के केन्द्र पर स्थित होकर ही उसकी मर्म-पीड़ा का प्रकाशन एवं उपचार का साधन सामने रखने में सफल हो सकेगी, अन्यथा नहीं। सामूहिक जीवन की जीर्ण शीर्ण रुग्णता को दूर करके उसे स्वस्थ और सशक्त बनाने का प्रयत्न ही आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य-विन्दु है। प्रमुखतः आधुनिक उपन्यास के विकास की यही कथा है।

प्रेमचन्द

सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के साथ व्यापक जीवन की गति में भी परिवर्तन आता है। साहित्य कभी इस हलचल से अछूता नहीं रह सकता क्योंकि वह जीवन का अन्तर्दर्शन है। गाँधी के असहयोग ने समाज के अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य को भी प्रभावित किया। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द और काव्य-साहित्य में मैथिलीशरण गुप्त इस आन्दोलन के साहित्यिक-अधिनायक हैं। गाँधी-युग तक पहुँचते पहुँचते भारतीय आध्यात्मिक जीवन रूढ़ि ग्रस्त और भौतिक जीवन कोढ़ ग्रस्त हो गया था। असहयोग-आन्दोलन ने जीवन में जागरण की सूचना दी और फल-स्वरूप हमारा साहित्य समाज-रचना की चाल से अपनी चाल मिलाने लगा। इस समय कथा-साहित्य में दो विचार धाराओं का उदय हुआ—एक, जो अपने अभाव जगत् (दैनिक जीवन) में बीसवीं शताब्दी की सारी उथल-पुथल का का भार ढोते हुये भी भाव-जगत् (काल्पनिक जीवन) में मध्यकाल की रंगीनता का स्वाँग रचती रही, दूसरी, जो मध्यकालीन सम्पन्न वर्ग की दुर्बलताओं के कृत्रिम आवरण को दूर फेंक कर दैनिक जीवन की अस्तव्यस्त ओढ़नी ओढ़कर आगे बढ़ी। प्रेमचन्द इसी दूसरी विचार-धारा के प्रौढ़तम विकास हैं।

इस जागरण में प्रेमचन्द ने कोई नया-संसार नहीं बसाया वरन् पिछले संसार की त्रुटियों के परिमार्जन की चेष्टा की और उन्हें दूर करने की आवाज उठाई। वे सुझाव के साथ-साथ सुधार की ओर बढ़े। यह स्मरण रखना होगा कि जो सुधार भारतेन्दु-युग में जातीय अथवा सामाजिक घेरे में ही सीमित था वह अब अखिल भारतीय

बनकर अपना सहज विस्तार पा चुका था। फिर भी वह विश्व-व्यापकता का स्पर्श नहीं कर सका, इसमें भी सन्देह नहीं है। क्रमिक विकास के अनुसार शायद और कुछ सम्भव भी नहीं था। यही कारण है कि प्रेमचन्द के साहित्य में भारतीयता और कला का संघर्ष बराबर चलता रहा, अन्त में (गोदान में) दोनों को छोड़कर मनुष्यता की विजय रही।

प्रेमचन्द ने हमारे सामाजिक प्रश्नों को समस्त देश के जीवन-मरण के रूप में संसार के सामने रखा, यही उनकी सब से बड़ी साहित्यिक देन है। "सत्य को जहाँ मनुष्य स्थूल रूप में अर्थात् आनन्द रूप में, अमृत रूप में प्राप्त करता है, वहीं अपना एक चिह्न खोद देता है। वह चिह्न ही कहीं मूर्ति, कहीं मन्दिर, कहीं तीर्थ और कहीं राजधानी हो जाता है। साहित्य भी यही चिह्न है"। प्रेमचन्द का साहित्य भी उनके सत्य-ग्रहण का चिह्न है, मानवता के प्रति सहानुभूति-मय आत्मपीड़न का प्रतीक है। बाह्य संसार हमारे अन्तर-संसार में प्रवेश पाकर एक नया रूप धारण कर लेता है। उसमें केवल बाह्य संसार के रूप, रंग तथा रस आदि ही नहीं रह जाते बरन् उसके साथ हमारा प्रेय-श्रेय और भला-बुरा भी मिल जाता है जो हमारी मानसिक-वृत्ति के मिश्रित रस से सिक्त होकर हमारी साहित्यिक कृतियों में अपना स्वरूप पाता है। अतएव साहित्यकार की संस्कार जनित सम्वेदनशील वृत्तियों की विस्तार-प्रमुखता और संकीर्णता उसकी साहित्य-साधना में सहायक अथवा बाधक होती है। यही कारण है कि भाव-प्रवण व्यक्तियों के मन का साहित्यिक-जगत् बाह्य जगत् की अपेक्षा मानवता के लिये अधिक अपना होता है। हृदय का यह जगत् अपने को बाह्य जगत् के बीच में स्थापित करने के लिये सदैव व्याकुल रहता है। चिरकाल से साहित्य का आवेग इसी आकुलता का उदाहरण है, इस-लिये साहित्य की विवेचना करते समय दो बातों पर विचार करना अत्यन्त

आवश्यक होता है। प्रथम लेखक के हृदय का, संसार के ऊपर कितना अधिकार है? द्वितीय उसके व्यक्त करने का साधन स्वस्थ है अथवा नहीं! प्रेमचन्द अपने साहित्य की भांति स्वयं एक विशेष विपन्न सामाजिक परिस्थिति के परिणाम हैं। पीड़ित वर्ग के भीतर से वे साहित्य में आये और जीवन के संघर्ष में सतत् प्रयत्नशील रहे, अपने साहित्यक-प्रयासों में उन्होंने कभी अपनी जीवन-जन्य सामर्थ्य की सीमा लाँघने की चेष्टा नहीं की। अस्तु वे अपनी कलात्मक कुलीनता में अद्वितीय हैं, उनका दृष्टिकोण सीमित होते हुये भी सर्वथा स्वस्थ है और उनकी सेवायें सर्वमान्य हैं।

गांधी के आन्दोलन से हम अपने समस्त देश ही के नहीं वरन् सम्पूर्ण संसार के निकट परिचय में आये और हमें इस बात का बोध हुआ कि हमारा यह साहित्यिक जागरण अन्य देशों की मध्ययुग की अँगड़ाई का आभास मात्र है, क्योंकि बँगला के जिन दो महान कलाकारों रवीन्द्र तथा शरद् का प्रभाव हिन्दी में पड़ रहा था वे स्वयं हमसे बहुत पहले विश्व-साहित्य के निकट परिचय में आ चुके थे और उनकी कृतियां गम्भीर साहित्यिक प्रेरणाओं से अनुप्राणित हो चुकी थीं। बंगाल की भाँति ही हिन्दी में मध्यकाल का आधुनिक संस्करण हुआ, कहना न होगा कि 'प्रसाद' ने राजसंस्करण और प्रेमचन्द ने प्रजा संस्करण का प्रतिनिधित्व किया।

हिन्दी कथा साहित्य के राजतन्त्र युग के वे सब से श्रेष्ठ प्रजा-प्रतिनिधि हैं, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। हमारा भौतिक और आध्यात्मिक, वैयक्तिक और सामूहिक, नाशवान और शाश्वत, क्षणिक और चिरकालिक हित इसी में है जिसमें विश्वमानव के बीच साम्य-भाव प्रतिष्ठित हो और परस्पर स्नेह सहानुभूति का अटूट बन्धन सहज ही स्थापित हो जाय। कला में बुद्धि से भाव की ओर अग्रसर होकर विश्व-मानव को एक करना होगा, प्रचलित जीर्ण-शीर्ण दूषित और दुर्बल सामाजिक

पद्धति और मानव के प्रति मानव की अत्याचार पूर्ण पौराणिक व्यवस्था का ध्वंस करके संसार का नवनिर्माण करना होगा। यही मानव जीवन का, वस्तुतः कला का चरम लक्ष्य है। 'युक्त करो हे सबार संगे' (सब के साथ मुझे मिलाओ) वाली ऐक्य भावना की उत्कंठा ही साहित्य-कला की कमनीय कोटि है। माना कि प्रेमचन्द का कथा-साहित्य कला की इस कोटि का नहीं किन्तु कला की अन्य अनेक कोटियाँ हैं।

प्रतिभा विस्मय की वस्तु नहीं, वह बुद्धि साध्य वह मनोरथ है जिसका अंकुर साधारण कृषि-अंकुर की भाँति अपना ह्रास और विकास देखता है। सृजन में साधना के बिना सफलता मिल ही नहीं सकती। संसार की कोई महान भाव-सृष्टि बिना अविरत साधना, स्वशासित संयम और स्वाभाविक समन्वय की सीढ़ियाँ पार किये महत्ता का आँचल तक नहीं स्पर्श कर पाती, फिर पूर्ण सफलता की बात कौन कहे ? यह विधान संसार के किसी भी महान साहित्यकार के प्रति लागू होता है किन्तु प्रेमचन्द इसके अन्यतम उदाहरण हैं। चाहे वे विश्व-भावना से भले ही दूर रहे हों, मार्क्स की अपेक्षा गाँधी को ही अपनाया हो, प्रगतिवादी की अपेक्षा आदर्शवादी ही रहे हों पर वे अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल से भारतीय कथा-साहित्य में एक ऐसी उज्ज्वल ज्योति का आयोजन कर गये हैं जो अपनी सचाई के लिये स्वयं सबसे बड़ी शपथ है। भारतीय कथा-साहित्य के लिये वे दीपस्तम्भ का काम कर गये हैं। उनमें हमें रवीन्द्र और शरद् दोनों के दर्शन होते हैं। उनका आदर्श रवीन्द्र के साथ और यथार्थ शरद् के साथ बराबर चलता है।

आज प्रेमचन्द हम लोगों के बीच में नहीं हैं किन्तु उनकी लेखनी द्वारा मूक भारतीय, पराजित और पीड़ित जनता की मर्म-वेदना का जो स्वर झंकृत हुआ है, वह उत्तम और उच्च है, संसार साहित्य में उसका अस्तित्व अमिट है। सम्भवतः शेक्सपियर ने कहा था—

आधुनिक

मेरे प्यारो ! मेरे मरने के बाद कोई दुख का गीत न गाना
प्रेमचन्द भी इसी श्रेणी में हैं।

प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि १९०६ का स्वदेशी आन्दोलन अब १९१९ के 'जलियाँ वाला' बाग की घटना के बाद असहयोग आन्दोलन का सुदृढ़ एवं स्वस्थ स्वरूप पा चुका था। साहित्य में उसका आभास आवश्यक था, यह अनुभूत सत्य है कि राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्तियाँ सदैव साथ-साथ एक दूसरे के पश्चात् हुआ करती हैं। साहित्य इन दोनों का दर्शन है। समाज और राजनीति की वास्तविक स्थितियाँ आगे चलकर साहित्य की प्राण-प्रवेगिनी धारायें बन जाती हैं, साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है। प्रेमचन्द के समय के भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक त्रुटियों का अध्ययन अनुचित न होगा।

सामाजिक-त्रुटियाँ—हमारा समाज त्रुटियों का ताण्डव है किन्तु उनमें कुछ ऐसी भयानक हैं जिनकी हीनता का परिणाम हमारे समाज के लिये अत्यन्त हानिप्रद है। इन जटिल-जीर्ण समस्याओं में सब से पहला स्थान विवाह के सामाजिक बन्धन का है क्योंकि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध समाज की संगति का उत्तरदायी होता है। राजनीति में नेता गण, समाज में सुधारक समूह, और साहित्य में लेखक गण, इस प्रथा के दूषण के निराकरण में व्यस्त हैं, प्रेमचन्द ने भी इसे अपनाया है। बेजोड़ विवाह, दहेज की कुप्रथा, पुरुष की अनेक शादियों की स्वच्छन्दता, बाल-विवाह, गरीब और अमीर का विवाह आदि समस्याओं के सुन्दर उद्घाटन अपनी कृतियों में प्रेमचन्द ने किये हैं। वेश्याचार, लड़कियों का बेचना, जुँआ, नशेबाजी आदि का भी मर्मस्पर्शी चित्रण और उनके सुधार-सुझाव के उद्योग प्रेमचन्द की कृतियों में हैं। उन्होंने इस समाज के दो भाग कर दिये हैं—ग्रामीण और नागरिक। भारत ग्रामों में है और प्रेमचन्द उन्हीं के शब्द-चित्रकार।

कथासाहित्य

राजनीतिक-त्रुटियाँ—पाश्चात्य देशों की तरह हिन्दी में विशेषकर गद्य-साहित्य में, प्रेमचन्द के समय तक शुद्ध राजनीतिक साहित्य की कोई रूप-रेखा नहीं थी किन्तु सामाजिक समस्याओं के साथ साथ प्रेमचन्द ने राजनीतिक समस्याओं गरीबी, बेकारी, किसानों की विपदा, जमीदारी प्रथा की बुराइयाँ तथा पराधीनता-पोषित अन्य-कठिनाइयों पर भी प्रकाश डाला है। यद्यपि उस समय लोग इनकी प्रधानता से घबड़ाते थे किन्तु आज समाजवाद के सिद्धान्त ने उसे और पास खींच लिया है। देश के जीवन में जोंक की तरह चिपकी इन सभी समस्याओं को साहित्य में निर्भीकता से अपनाने वाले प्रेमचन्द ही हैं। काव्य में इनको सँजोने का सुख सयाने गुप्त जी को है। इसलिये कहा जा सकता है कि हिन्दी में जन-साहित्य के विकास की कथा, प्रेमचन्द का कथा साहित्य है।

'यह एक वास्तविक द्वन्द्व है—जैसे कि इस विश्व में कुछ ऐसी चीज है, जिसका हमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व और पूर्ण हार्दिकता से परिहार करना आवश्यक है'। (विश्वास की इच्छा) नामक पुस्तक की इन पंक्तियों का प्रेमचन्द ने साहित्यिक स्वागत किया है। 'सेवा सदन' से लेकर 'गबन' तक प्रेमचन्द के आत्मगीत का लयबिन्दु भारतीय समाज का सहित्यीकरण है। उनकी लेखनी निरन्तर राष्ट्रीय जागरण की वाणी बोलती है।

क्या विश्व-राष्ट्र में, राष्ट्र विशेष की कोई परिगणना नहीं ? छोटे राष्ट्रों का संसार के ऊपर एक बड़ा कर्ज है। विश्व की सर्वोच्च साहित्यिक-कला छोटे-छोटे राष्ट्रों का ही निर्माण है। विश्व का शाश्वत साहित्य छोटे राष्ट्रों से ही सर्जित हुआ है। शौर्य के कार्य पीढ़ी दर पीढ़ी से मानवता को प्रभावित करते चले आ रहे हैं, वे अपने स्वातंत्र्य के लिये लड़ने वाले छोटे राष्ट्रों की ही कृतियाँ हैं। छोटे राष्ट्र वे पवित्र पात्र हैं जिनमें आसव भरकर व्यापक विश्व-शक्ति मानवता के होठों पर लगाती है,

आधुनिक

जिससे हृदय प्रफुल्लित हो जाते हैं, दृष्टि उद्दीप्त हो जाती है और विश्वास सचेत और सम्भाव्य हो उठता है। इस कारण राष्ट्र-विशेष के साहित्यकार का साहित्य प्रायः आदर्शोन्मुख होता है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में राष्ट्र-भावना से ऊपर उठ कर विश्व-मानवता का आलिंगन किया है।

'सेवासदन' प्रेमचन्द का नहीं, हिन्दी का पहला मौलिक सामाजिक उपन्यास है। इसके पहले १६०५ में उनका 'प्रेमा' नामक उपन्यास निकल चुका था किन्तु इस छोटी पुस्तिका को उपन्यास न कह कर एक बड़ी कहानी कहना ही अधिक न्यायसंगत है। इसमें हिन्दू समाज के अत्यन्त पीड़ित वर्ग विधवाओं के उद्धार का सुझाव विधवा-विवाह के रूप में उपस्थित किया गया है। सेवासदन में नगर के मध्यवर्ग का बहुत ही सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया गया है। जीवन की विपन्नता का वास्तविक बोध लोगों को प्रथमबार इस उपन्यास से हुआ। इसके सभी पात्र जीवन के निकट संपर्क में आने वाले व्यक्ति हैं। सारा कथानक उन्हीं के मनोवेगों और क्रिया कलापों के सहारे आगे बढ़ता है।

समाज की जिन अक्षम्य त्रुटियों के कारण मध्यवित्त के परिवारों का भयानक पतन होता है, वही समस्यायें इसका केन्द्र-बिन्दु हैं। घर और व्यक्ति की अपेक्षा लेखक ने समाज और नगर को अधिक ममता दी है। बेजोड़-विवाह, दहेज-प्रथा और वेश्या-वृत्ति की कुप्रथाओं का इसमें सुधारात्मक चित्रण है। दरिद्र पति द्वारा अपमानित और निर्वासित 'सुमन' को वेश्यालय में बिठा कर लेखक ने सभ्यताभिमानी समाज की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। रूढ़ियों और अन्य विश्वासों का उत्तरदायित्व प्रेमचन्द ने समाज के ही मत्थे पटका है। युगयुगों से ठुकराई जाने वाली वेश्याओं के प्रति लेखक की मार्मिक ममता और सच्ची स्वाभाविक सहानुभूति है। पद्मसिंह के शब्दों में जैसे लेखक का हृदय फूट पड़ा है—"हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह

घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुप्रथायें हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमंडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें? उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि उन्हें सुमार्ग पर लावें, उनके जीवन को सुधारें"। लेखक का हृदय और मस्तिष्क जीवन की अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों के साथ मेल करने में सदैव सलग्न रहा। देश-प्रेम, भाषा-प्रेम, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य आदि कई भावों के उद्घाटन और उद्धार का उन्होंने मार्ग सुझाया है। वस्तु-जगत की भाँति भावों के समीकरण का भी सन्देश दिया है। ग्लानि और संयम द्वारा आत्म-शुद्धि की अनवरत चेष्टा प्रेमचन्द के पात्रों की विशेषता है।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द, नगर से गाँव की ओर मुड़े हैं। किसान और जमींदार के बीच उत्पन्न खिंचाव के सुलझाने का इसमें प्रयत्न है। 'प्रेमा' के पश्चात् 'सेवासदन' और तत्पश्चात् 'प्रेमाश्रम' का क्रम, घर के बाद समाज और समाज के बाद देश का क्रम निर्वाह है। लेखक के मनोजगत् में स्थित गाँव के दर्शन लखनपुर में होते हैं। यद्यपि इस स्वर्गीय स्थान की अवतारणा ने उपन्यासों को काल्पनिक एवं अति कृत्रिम बना दिया है, सब को त्यागी और आदर्शवादी बनाने में प्रेमचन्द को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा है तथापि पतितों और कृषकों की अधिकार रक्षा का उसमें आकुल आवेदन है।

'रंगभूमि' के साथ प्रेमचन्द की रुझान उतनी सामाजिक नहीं रही जितनी राजनीतिक। 'कर्मभूमि' में राजनीति अपनी चरम परिणति को प्राप्त होती है। 'रंगभूमि' जीवन की वास्तविक रंगभूमि है। इसमें लेखक ने समस्त जीवन का सम्पूर्ण चित्र बड़ी व्यापकता से खींचा है। नगर, ग्राम, अधिकार, कर्तव्य, प्रेम, घृणा, सुख-दुःख, आशा निराशा तथा जय-पराजय आदि सभी जीवन की मूल प्रवृत्तियों को लेकर इसकी

आधुनिक

सृष्टि हुई है। यह सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का समन्वयात्मक सदोद्योग है। भारतीय जीवन की समष्टि का इसमें पूर्ण चित्रण है।

'सेवासदन' नागरिक वातावरण से बोझिल और 'प्रेमाश्रम' ग्रामीण उदासीनता से शिथिल है किन्तु 'रंगभूमि' में एक नवीन टेकनीक के सहारे ग्राम और नगर दोनों साथ-साथ चलते हैं। शोषित और शोषकों का संघर्ष होता है। लेखक का दृष्टिकोण मानवतावादी है केवल कलावादी नहीं। कहीं-कहीं संपन्न वर्ग के प्रति अकारण आक्रोश का भी आधिक्य है। गाँधी के राष्ट्रीय-जीवन का सुन्दर समर्थन प्रेमचन्द ने किया है, इसमें सन्देह नहीं। सूरदास के व्यक्तित्व की झलक गाँधी में मिलती है। लेखक की राष्ट्रीय प्रतिभा ने यहाँ अपना पूर्ण विकास पाया है। 'प्रेमाश्रम', काल्पनिक रामराज्य के स्वप्न से मंडित एक कमेडी है तो 'रंगभूमि' जीवन की वास्तविकता से अनुप्राणित ट्रेजडी। 'कायाकल्प' की अलौकिक कथा-वस्तु का विस्तार पाठकों का मनोरंजन भले ही कर दे पर उस पर उनका विश्वास नहीं हो सकता। यों तो 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानन्द, शक्ति की उपासना से विष भी पचा लेते हैं, 'रंगभूमि' का विनय सम्मोहन की बूटी से सोफिया को मोहित करता है किन्तु 'कायाकल्प' में ऐसे अन्ध विश्वासों की ऐसी अनर्थक बहुलता है कि इसका मूल्य केवल आध्यात्मिक जगत् की वस्तु बनकर आकाश में उतराता रहता है। इसे वास्तविक जीवन के कटु-अनुभव के बाद मानसिक जगत् का विश्राम स्थल कहना ही ठीक होगा।

रहस्यों की अनेक उद्भावनायें तर्क और बुद्धि की सीमा में नहीं समा पातीं, लौकिक न होकर अलौकिक ही रह जाती हैं। लेखक अपना एक उद्देश्य और उत्तरदायित्व समझता है और उसके प्रति प्रत्येक क्षण सजग और सतर्क रहता है। यही कारण है कि प्रेम (जीवन का संपन्न व्यवहार) कभी उनके उपन्यासों का आधार नहीं बन सका। देश के

असंख्य नंगे-भूखों की हाय के सामने वे सम्पन्न वर्ग की प्रणय-लीला को प्रश्रय नहीं दे सके। उनके पात्रों में प्रायश्चित का प्राधान्य है, संघर्ष का नहीं, जो प्रेम में अवश्यम्भावी होता है। उनके पात्र अफ्रीका से लौटे गाँधी के सिद्धान्तों से अपना साम्य रखते हैं योरुप से लौटे देशी नरेशों से नहीं। यही कारण है कि वे प्रत्येक समस्या के सुधार की एक योजना सामने रखते हैं उसके स्वाभाविक निराकरण की परवाह नहीं करते। सम्भवतः प्रेमचन्द केवल गति (कर्म) पर ही विश्वास नहीं करते, वे सत्य को समझ कर उसको सिद्धान्त रूप से भी ग्रहण करना चाहते हैं, चाहे इससे उनकी कला का खर्व ही क्यों न हो जाय।

मनोरमा का मूक अनुराग और अनुपम त्याग 'कायाकल्प' की मूल चेतना है। सोफिया से भी वह एक कदम आगे है। स्त्री हृदय, उसके निष्काम-प्रेम और आत्म बलिदान में मनोरमा प्रेमचन्द के स्त्री पात्रों में सब से सुन्दर है। यदि लेखक ने आध्यात्म और पुनर्जन्म के प्रति अपना अत्यधिक आकर्षण न दिखाया होता तो यह उपन्यास चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, कलात्मक चुस्ती और भाषा-प्रवाह की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन गया होता। जो भी हो, इसकी कथा-वस्तु एकदम अनोखी नहीं। शा का 'मैन एन्ड सुपर मैन' भी कुछ ऐसा ही रूप लिये है।

सन् १६३० में देश ने एक बार फिर अपने प्राणों की बाजी लगा कर सविनय अवज्ञा का कार्य आरम्भ किया। स्वतंत्रता के इस संग्राम में भारतीय जनता ने बड़े-बड़े अमानुषीय अत्याचार सहे। छोटी-छोटी बातों पर गोलियाँ चलाई गईं और अपनी निर्धनता के कारण लगान न चुका सकने के फलस्वरूप किसानों ने विद्रोहियों जैसी सजायें पाईं। पुरुषों की तो बात ही क्या, पिकेटिङ्ग करती हुई महिलायें भी गिरफ्तार की गईं और उनके साथ मानवता की सीमा के परे प्रायः सभी अत्याचार किये गये। यह सब देख कर, समय का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रेमचन्द पुनः 'कर्मभूमि' के द्वारा राजनीति में आये। 'कर्मभूमि' एक

राजनीतिक उपन्यास है। इसमें पिछले राजनीतिक सत्याग्रह-आन्दोलन का इतिहास साहित्य के माध्यम से अंकित किया गया है। स्त्री स्वयंसेविकाओं ने जो भाग सत्याग्रह में लिया था, लेखक उससे अधिक प्रभावित हुआ जान पड़ता है क्योंकि 'कर्मभूमि' में सब उपन्यासों से अधिक महिला कार्य-कर्त्रियों का चित्रण एवं विश्लेषण किया गया है।

कथानक की दृष्टिकोण से 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' सफल कृतियाँ हैं। उपन्यास के अन्त में जब 'कर्मभूमि' के सभी पात्र जेल में आ जाते हैं तब सेठ समरकान्त के मुँह से सब कैदियों के छोड़ने की आज्ञा सन् ३१ के गाँधी-इरविन समझौते का स्मरण दिलाती है। 'कर्मभूमि' के समझौते के पश्चात् प्रेमचन्द कभी फिर इस झगड़े की ओर नहीं उन्मुख हुये। उन्होंने, शायद निश्चय पूर्वक अपने शब्दों को समझ लिया—"ऐसे आन्दोलनों से सैकड़ों घर बरबाद हो जाने के सिवा और कोई नतीजा नहीं निकलता, इनसे प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है। जब तक रोग का ठीक निदान न होगा, उसकी ठीक औषधि न होगी, केवल बाहरी टीम-टाम से रोग का नाश न होगा। इस रोग का नाश करने के लिये हमें प्रजा में जागृति और संस्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। हमारी शक्ति पूरी जाति के जगाने में लगनी चाहिये"।

'सेवासदन' के बाद से ही भिन्न-भिन्न आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द पर काल्पनिक, आदर्शवादी, सुधारवादी, उपदेशक और प्रचारक आदि बनने के आक्षेप होने लगे थे। 'कर्मभूमि' तक पहुँचते-पहुँचते देश के जीवन की सतत् पराजय ने इस आशावादी एवं आदर्शवादी वीर साहित्यिक सैनिक को भी विचलित कर दिया। वह जितना ही अधिक आदर्श की ओर बढ़ता गया, क्षितिज रेखा की तरह आदर्श उससे दूर होता गया और उसके जीवन काल ने उसके सभी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के सुझाव सत्य की स्वाभाविकता से दूर स्वप्न

ही रह गये। अतएव मृत्यु की ओर बढ़ते हुये लेखक ने उठ-उठ कर गिर-गिर जाने वाले जीवन की नैराश्य पूर्ण कठोर वास्तविकता का परिचय कराना ही उचित समझा।

'गोदान' में न तो 'रंगभूमि' के समान जीवन का कोई निर्दिष्ट आशावादी सन्देश है न 'प्रेमाश्रम' की भाँति किसी रामराज्य का सैद्धान्तिक स्वप्न और न 'सेवासदन' की तरह समाज-सेवा का कार्यक्रम। इसमें केवल जीवन के यथार्थ चित्र और उसकी समस्यायें हैं। वास्तव में प्रेमचन्द समस्याओं के सुझाव में नहीं किन्तु उनके उद्‌घाटन में अद्वितीय हैं। 'गोदान' में समस्याओं के समाधान का सुझाव न होने के कारण कथानक कुछ अपूर्ण-सा अवश्य लगता है। जीवन भी तो अपूर्ण है किन्तु उसमें पूर्णता की अकाँक्षा, उसकी आस्था और उस ओर का एक सन्देश अवश्य रहता है, जो 'गोदान' में है। होरी की पराजय में आत्मा की विजय का वह आध्यात्मिक सन्देश नहीं है जो 'रंगभूमि' के सूरदास या विनय में है।

'गोदान' ग्रामीण जीवन के अंधकारमय पक्ष का महाकाव्य है। मनुष्य स्वभाव की सभी विवशताओं को मानते हुये लेखक ने होरी का चित्र खींचा है। परिस्थितियों के विषम चक्र का शिकार होकर भी वह अकर्मण्य भाग्यवादी नहीं है। वह जीवन के संघर्ष से थका है पर जीवन को जगाने का स्पन्दन उसमें है। यहाँ पहुँच कर लेखक की उपन्यास-कला अपने चरम विकास का स्पर्श करती है। 'गोदान' प्रेमचन्द की विकल आत्म-प्रतिमा है। इसमें एक ओर होरी और उसके गाँव वालों की संघर्ष पूर्ण करुण कहानी है तो दूसरी ओर मालती-मेहता के मित्रों का आमोद-प्रमोद पूर्ण विलासमय जीवन का आरुगान। निराशा और अंधकार से भरे हुये ग्राम-जीवन की पार्श्व-भूमि पर नागरिकता का विनोद, समाज सेवा का स्वाँग, शिक्षा-संस्कृति, स्वार्थगत सिद्धान्त तथा वैभव का नग्न विलास, अपनी अपनी अहमन्यता की ओट से अड़े खड़े हैं। उस

आधुनिक

अंधकार में इनका प्रकाश शरीर में पके हुये फोड़े की भाँति लहक-दहक रहा है।

यही हमारे वर्त्तमान का यथार्थ चित्र है। इसमें आगत भविष्य की सम्भावनाओं का दर्शन नहीं मिलता। होरी को उसकी विभिन्न विरोधी परिस्थितियों में रख कर लेखक स्वयं द्रष्टा की भाँति उसके कार्य-कलाप का निरीक्षण करता है। वह लेखक के विचारों तथा सिद्धान्तों का माध्यम मात्र नहीं वरन् अपनी स्वाभाविक जीवन लीलाओं का सहचर है। उसमें दुर्बलता भी है सबलता भी, संकोच भी है उदारता भी, मोह भी है त्याग भी, वह सदाचारी होते हुये भी धर्म भीरु है क्योंकि जीवन का वास्तविक सदाचार समाज ने आज समाप्त कर दिया है। 'गोदान' की कथा गढ़ी हुई नहीं मालूम होती क्योंकि उसमें जीवन की स्वाभाविक गतिशीलता है। जीवन ही कैसे छायालोकमय सुख-दुख इसमें आते जाते हैं। कहीं खन्ना जैसा खड्ड है तो कहीं होरी जैसा उच्च शिखर। चोटी के धनी-मानी व्यक्ति और धरातल के गरीब, सभी के लिये इसमें अवकाश और स्थान है।

मानवीय चित्रों के साथ प्राकृतिक चित्रों का भी इसमें चित्रण है—"फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगंध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी"। इस प्रकार 'गोदान' जीवन की अन्तर और बाह्य-प्रकृति का सफल चित्रण और अनुपम निरूपण है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के अध्ययन और विवेचन से पता चलता है कि उन्होंने अपने समय का सफल प्रतिनिधित्व किया है। उनके पात्र देश की सामाजिक अवस्थाओं और राजनीतिक आन्दोलनों की ही देन हैं। सभी पात्र प्रायः आदर्शोन्मुख हैं, पर जीवन तो ऐसा नहीं होता। आदर्श और यथार्थ, जीवन की धूप-छाँही क्रीड़ा के पार्श्व-छवि हैं किन्तु

प्रेमचन्द ने पूर्व निश्चित सिद्धान्तों की परिधि के भीतर प्रत्येक पात्र को घुमा कर उसे आदर्श में उलझा दिया है। यथार्थ की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ, उद्वेगों की आकुलताएँ प्रेमचन्द ने कम ही स्वीकार किया है। उनके चरित्र गतिशील न होकर उनके सिद्धान्तों के संकेत सूचक पथस्तम्भ हैं। कथानक प्रायः खंडों में विभाजित और शिथिल हैं। कथा में नैसर्गिक निर्झरिणी की अपेक्षा कृत्रिम नहर के ही दर्शन होते हैं। प्रत्येक उपन्यास में वस्तु की प्रचुरता प्रायः दो स्वतंत्र कथानकों की सृष्टि करती है जिसमें एक का आधार समाज और दूसरे का राजनीति है। उनके वर्णन तथा चित्रण अन्तर्पक्ष की अपेक्षा वाह्यपक्ष से आपूरित हैं। विवरण की अधिकता उबा देने वाली होती है किन्तु उनके औपन्यासिक गुणों की अधिकता इतनी स्पष्ट है कि उनकी इन सभी दुर्बलताओं की हम सहज ही उपेक्षा कर सकते हैं। जिन भावनाओं से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने उपन्यासों की सृष्टि की है, उनके मूल में क्रियात्मक रूप से दो शक्तियों का प्रभाव है। आध्यात्म रूप से उनमें टालस्टाय (गाँधी) की मानव-साधना है और कलात्मक रूप से डिकेंस (शरद्) की विविध रूपों में जीवन देखने की प्रणाली।

टालस्टाय के (परिहार सिद्धान्त) में पाप-पुण्य का मानव के साथ जो जीवन-संघर्ष है और परिणाम में पुण्य की जो आधिभौतिक विजय है, वह प्रेमचन्द के उपन्यासों की आधारभूत शिला है। उनकी पश्चातापमय हृदय की करुण प्रताड़ना का समन्वय प्रेमचन्द ने भारतीय दर्शन से किया है। निराशा पर आशा की अन्तिम विजय, विषाद पर उल्लास की चिरन्तन सत्ता तथा यथार्थ में आदर्श की स्थापना के सूत्र का सम्बल उन्हें अपनी कृतियों को देना पड़ा है। साथ ही प्रेमचन्द के उपन्यासों में क्रिश्चियन-संस्कृति का भी अप्रत्यक्ष रूप से गहरा प्रभाव है— "अन्त में सारे दुःखों के वृक्षों से, झाड़-झंखाड़ों से, अमृत की तरह

मीठे फल निकलेंगे, तेरी रोती आँखों में हँसी खिल-खिला पड़ेगी, तू तो यही जान कि वह है और दयालु है" ।

मुस्लिम-संस्कृति के इस आदि वचन का विवेचन और निरूपण 'कायाकल्प' में हुआ है। इन प्रभावों के होते हुये भी गाँधी की नवोन्मेषिणी वाणी को अपनाने का अद्भुत आकर्षण प्रेमचन्द में है। इसी कारण वह कलाकार की अपेक्षा एक राजनीतिक की भाँति साहित्य में एक राष्ट्र की भावनाओं के शब्द-शिल्पी हैं किन्तु जर्मनी और इटली के प्रखर अंध स्वदेशाभिमान का आभास उनकी रचनाओं में नहीं आ पाया, जो पाशविक बर्बरता का बीहड़ बवन्डर है। पशु-नियमता की अनर्गल स्फूर्ति से अभिभूत स्वदेशाभिमान अन्य राष्ट्रों का शत्रु, अन्य संस्कृति का विरोधक और अन्य कल्याण का निषेधक हो जाता है। प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता महात्मा के सत्य और अहिन्सा के शुचि-चेतन से अनुप्राणित है, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उँचाई पर स्थिति है। इसीलिये प्रेमचन्द की कृतियाँ प्रचार की साधन नहीं जीवन की अभिव्यक्ति हैं।

किसी भी महान लेखक की रचना का प्रत्येक स्थल विश्व-जनीन भावों का प्रतीक नहीं होता। शेक्सपियर के नाटकों के प्रत्येक स्थल सम्पूर्ण मानवता की भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं, टालस्टाय की कृतियों का प्रत्येक पृष्ठ देश काल की सीमित भावनाओं से विमुक्त नहीं, हाँ कुछ ऐसे स्थल अवश्य आ जाते हैं जहाँ लेखक की विचार-धारा समस्त मानव-प्राकृति भावना में स्वच्छन्द होकर प्रवाहित होने लगती है—यही विश्वजनीनता की साधना है।

प्रेमचन्द की भावना तथा कला के आन्तरिक परीक्षण के पश्चात् उनकी कला की बाह्य रूप-रेखा पर भी विचार करना आवश्यक है। स्थूल रूप से उनकी कला वर्णन-प्रधान है। समस्त कृतियों में वर्णन एक स्थायी तत्व है जिस पर सारी घटनायें, सारे पात्र और सारी समस्यायें

अवर्तन करती हैं। बंगला में बँकिम के वर्णन में एक परिपूर्ण विशेषता है किन्तु प्रेमचन्द में वर्णन का वह रूप नहीं। बंकिम का वर्णन चरित्र चित्रण के आधार पर चलता है और प्रेमचन्द का चरित्र-चित्रण वर्णन के आधार पर। वास्तव में चरित्र चित्रण ही उपन्यासकार का साध्य है, प्रेमचन्द का चरित्र-चित्रण संश्लिष्ट एवं पूर्ण नहीं हो पाया किन्तु वर्णन-प्रधानता में वे सूक्ष्मा के साथ हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि वर्णन में भी प्रेमचन्द हृदय-संघर्ष के कलाकार नहीं, जीवन-संघर्ष के स्थूल पहलू के सफल चित्रकार हैं। इसी में वे बहुत ऊँचे हैं। उनके कुत्सित परिस्थितियों के वर्णन में भी जो समझदारों का सा-संयम है, विदेही की-सी जो उदासीन उपेक्षा है उसे कुछ लोग उनकी आदर्शात्मिक उज्ज्वलता की अपेक्षा कलात्मक श्यामलता भी कह सकते। ठीक भी है, कला इतनी प्रबंधित वस्तु नहीं जो वास्तविक सत्य का नाम सुनकर उदासीन और आबद्ध रह सके। आदर्श की एक सीमा होती है, वह मनुबाबा की नियमावली नहीं है। अँग्रेजी उपन्यासकार हार्डी तथा लारेन्स यथार्थवादी हैं पर उसी परिमाण में जिसमें प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं।

ग्राम्य-जीवन के जितने सरस तथा हृदय-ग्राही वर्णन प्रेमचन्द ने दिये हैं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति अमिट रूप से परम्परागत होती हुई गाँवों में सुरक्षित रहती है। एक बार अनातोले फ्रांस से एक जर्मन लेखक ने कहा "महाशय मैं आपके देश में फ्रेंच-संस्कृति एवं सभ्यता का अध्ययन करने आया हूं; पर दो साल तक पेरिस में रहते हुये भी मैं जैसा आया था वैसा ही हूं"। अनातोले फ्रांस ने उत्तर दिया—"महाशय, यह आप को किसने बताया कि आप पेरिस में रहें और फ्रेंच संस्कृति का अध्ययन करें। क्या आप को स्मरण नहीं कि किसी देश की संस्कृति के अध्ययन करने का एक मात्र विद्यालय उसके गाँव हैं। आप कृपया किसी देहात में जाकर रहें"। अतः ग्राम-

आधुनिक

जीवन का चित्रण तथा वर्णन करते हुये प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति के मूल तक पहुंच गये हैं। आधुनिक कथासाहित्य में, प्रेमचन्द देश की संस्कृति के सच्चे पुरोहित हैं।

यही कारण है कि समन्वय, सरसता और जीवन की सरलता प्रेमचन्द की अपनी चीज़ है। वे सरल हैं, उनके जीवन-सम्बन्धी विचार सरल हैं और उनकी कल्पना बोधगम्य और सरल है। कहीं भी दुरूहता और जटिलता की छाया उनमें नहीं है क्योंकि उनके पात्र, उनका वातावरण और उसकी भावना सभी सहज-सरल हैं। अत्यन्त सरलता से उनकी कथा-वस्तु का आरम्भ होता है, सरलता से उसका विस्तार होता है और उसकी समाप्ति भी सरलता से ही होती है। कार्यों द्वारा आत्माभिव्यक्ति का चित्रण भी कहीं-कहीं प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' में करने की चेष्टा की है। उपन्यासों के अन्य उपकरणों की भांति उनकी भाषा को भी अपार सफलता है। साधारण बोलचाल की भाषा में ही उनके जीवन विज्ञान-निरीक्षण प्रस्तुत हुये हैं। भावों और पात्रों के अनुकूल भाषा, उनकी कृतियों की यथार्थ-ग्राह्य की अमूल्य साधना है। उनकी भाषा उपन्यासों के लिये आदर्श है। वे आधुनिक कथा साहित्य के उद्भावक हैं।

आज वे अकाल-मृत्यु की गोद में विश्राम कर रहे हैं किन्तु उनकी वाणी हिन्दी के लिये अमरनिधि है। विश्व-कथा के सम्मुख आँखें उठाने का आत्मबल हिन्दी को प्रेमचन्द की देन है, इसे इंकार करना अपने हित पर कुठाराघात करना है। मन जिस वस्तु को आँखों द्वारा देखता है, भाषा यदि इन्द्रियस्वरूप बनकर उसको दिखा सके तो साहित्यकार का काम समाप्त हो जाता है। प्रेमचन्द का साहित्य एक नवीन आँख बनकर हमें अपने देश का दर्शन कराता है जो सच्चा और सजीव है। प्रेमचन्द की यह सफलता सात्विक और स्तुत्य है। अपने निकट जीवन के प्रति कलाकार की आत्मीयता ही उसकी अमरता की

द्योतक है, और इस कला में प्रेमचन्द अन्यतम हैं, यह निर्विवाद है। प्रेमचन्द के नाम के साथ स्टिवेन्सन के शब्द चिरकाल तक गूंजते रहेंगे—

सत्य अपनी सात्विकता की किसी सीमा में पहुँच कर यदि हमें सहानुभूति की भावना अथवा मनुष्यता की ममता से वंचित रखता है तो वह हमारे लिये असत्य है।

वास्तव में प्रेमचन्द की कृतियाँ भारत की पीड़ित नागरिकता का अट्टहास और सूखी हड्डियों वाले नंगे-भूखे किसानों से संकुल ग्रामीणता की आकुल आह है। प्रश्न यह नहीं कि प्रेमचन्द ने क्या लिखा? जिस समय वे हिन्दी में आये उस समय हिन्दी का कथा-साहित्य क्या था? और आज वह क्या नहीं है? के प्रश्नों के समाधान में प्रेमचन्द की महत्ता घनीभूत है। इसी मानवता प्रेमी साहित्यक फरहाद ने, अपना सिर फोड़ कर पत्थर से साहित्य के दूध की धार प्रवाहित की है। इसमें सन्देह नहीं है।

प्रसाद

साहित्य में प्रसाद जी सदैव अतीत के सम्पन्न आँचल की ओट मे अभिव्यक्त हुये हैं, वहीं तक वे जीवन के कवि हैं। कवि की कल्पना चिर संगिनी है किन्तु द्रष्टा को कल्पना का साथ छोड़ कर अनुभूति का (वास्तविक) का साथ देना पड़ता है। समाज के लिये साहित्य की यही सब से बड़ी देन है। वास्तविकता का अर्थ इन्द्रिय-ग्राह्य सांसारिक सत्य होगा इसे स्मरण रखना चाहिये। जिसे हम आँखों से देख कर उसका दर्शन लाभ कर सकते हैं, उसके कोमल-कठोर स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं, तर्क और बुद्धि से परीक्षित प्रामाणिकता का आरोप कर सकते हैं—वही हमारे लिये वास्तविक है।

इसके परे भी एक स्थिति है, चाहे हम उसे मानसिक कहें, आध्यात्मिक कहें या मनोवैज्ञानिक कहें, उसका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यथार्थ और आदर्श की सीमायें भी इसी सत्य से अनुप्राणित हैं। आदर्श की सम्भावनायें जीवन को गति देती हैं और यथार्थ की, जीवन को दौड़ (व्यायाम)। आज का सारा संसार जैसे मारमार कर सैनिक बनाया गया है। जीवन में चलने, दौड़ने दोनों की आवश्यकता है, ऐसे ही यथार्थ और आदर्श की।

साहित्य का मर्मी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के विश्लेषण से उतनी ममता नहीं रखता जितनी उनके समन्वय की सुरुचि से। प्रसाद जी साहित्य की इसी श्रेणी के मनीषी हैं। आध्यात्मिक दर्शन और भौतिक दर्शन के समीकरण से जीवन की जिस दिशा का उन्होंने संकेत किया है, उसे अवास्तविक कहना सम्भव नहीं। आदर्शोन्मुख साहित्य जीवन को गति और उत्कर्ष दोनों देता है, इस विचार से प्रसाद आदर्शवादी हैं।

उन्होंने साहित्य में यथार्थ की स्थिति का मानसिक संस्कार किया है। जमीन पर पैर टेक कर आकाश का कवि-अवलोकन किया है। यथार्थवादियों की अदूरदर्शिता जब जीवन की गति की तीव्रता में स्थिति की उपेक्षा कर जाती है तब भी आदर्शवादी की भावनाशील सम्भावनायें गति के साथ स्थिति का समर्थन करने की शक्ति रखती हैं। ऐसी सम्भावनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा जीवन, जीवन न रह कर यंत्र मात्र रह जावेगा। साहित्य न तो आध्यात्मिक दर्शन का 'ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या' लेकर चल सकता न आधुनिक भौतिक दर्शन का 'न केवल जगत् वरन् जगत् ही सत्य', का सम्बल ग्रहण कर सकता। उसे तो दोनों के बीच की सच्चाई ग्रहण करनी है।

'कामायनी' में प्रसाद की इस चेतना का दर्शन हमें काव्य के माध्यम से होता है और 'कंकाल' में सामाजिक निरूपण से। प्रसाद दोनों जगह आधुनिक युग में अकेले हैं। 'कंकाल' का सामाजिक दृष्टिकोण भारत का ही नहीं विश्व-मानवता का भावी दृष्टिकोण है। द्रष्टा को इसी कारण त्रिकालदर्शी कहा गया है, यों भी व्यतीत (अतीत) और व्यक्त (वर्तमान) की स्थिति भविष्य में अपना विकास करेगी, भाव-योगियों से यह छिपा नहीं। भारतीय संस्कृति और आध्यात्म के आधार से व्यक्ति और समाज का, यथार्थ और आदर्श का, स्थूल और सूक्ष्म का जो सुन्दर स्वरूप 'कंकाल' के द्वारा संसार के सामने रक्खा गया है वह व्यक्ति और समाज को दूध और पानी की तरह अपने में मिलाये हुये है। उनके चरित्र, शरीर कम और शक्ति अधिक हैं। देश की सामाजिक स्थिति और विकृति का ही चित्रण 'कंकाल' में नहीं है, धार्मिकता की भी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। सब से बड़ी विशेषता उसका भारतीय वातावरण है। समाज के एक विशेष स्थिति के पात्र इस विचार-धारा के वाहन हैं, उन्हीं के द्वारा इस सत्य की प्रतीति पुष्टि पाती है।

आधुनिक

'कंकाल' के सामाजिक विचार, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर एक गहरा अध्ययन उपस्थित करते हैं। इसका कारण है। प्रसाद जी जीवन में आनन्द के उपासक और उद्भावक हैं और प्रेम उनका आधार है। अतः प्रेम का स्वस्थ ऊष्ण स्पन्दन उनकी कृतियों में अवश्यम्भावी रहता है। 'कंकाल' में प्रेम के दो सामाजिक विभाग हैं; विवाहित और अविवाहित। इसके प्रायः पात्र जारज (वर्णशंकर) हैं।

उपन्यास की नायिका तारा और नायक विजय दोनों ही जारज हैं और तारा का पुत्र भी जारज है। पात्रों का चुनाव बहुत ही प्रगतिशील है, सन्देह नहीं। समाज में विवाह एक समझौता है, यदि वह अपना स्वरूप बदल कर जीवन को पंगु बना देने वाला बन्धन बन जाय तो क्या व्यक्ति उसे तोड़ देने के लिये तैयार न हो जायेगा? भारतीय समाज में विवाह की यही स्थिति है। 'विजय' के माध्यम से नवयुग की चेतना जैसे बोल उठी है—"घन्टी! जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों? मन्त्रों का महत्व कितना? झगड़े की विनिमय की यदि सम्भावना रही तो वह समर्पण ही कैसा? मैं स्वतंत्र प्रेम की सत्ता को स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या"? आज का समाजवादी भी तो यही कहता है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की इस सामाजिकता के साथ प्रसाद जी उसका राजनीतिक पहलू भी सामने रखते हैं। "प्रत्येक समाज में सम्पत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न देशों में जाति वर्ण और ऊँच नीच की सृष्टि की। जब आप उसे ईश्वरकृत विभाग समझने लगते हैं तब यह भूल जाते हैं कि इसमें ईश्वर का उतना सम्बन्ध नहीं जितना उसकी विभूतियों का। कुछ दिनों तक उन विभूतियों के अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही हो जाते हैं और वह प्रमत्त हो जाता

है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम विभूतियों का दुरुपयोग देखकर विकास की चेष्टा करता है, वह कहलाती है, उत्क्रान्ति। उस समय केन्द्रीभूत विभूतियाँ मानव-स्वार्थ के बन्धनों को तोड़कर समस्त भूतहित बिखरना चाहती हैं। यह समदर्शी भगवान की क्रीड़ा है"। इसीलिये 'भारतसंघ' सर्व-साधारण के लिये मुक्त है, वह वर्गवाद, धर्मिक पवित्रतावाद, आभिजात्यवाद, इत्यादि अनेक रूपों में फैले हुये सब देशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के जातिवादों की अत्यन्त उपेक्षा करता है। यही व्यक्ति की राजनीतिक स्वतंत्रता है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य के इस उद्‌बोधन में स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नहीं पाया जाता। उपन्यास की मूल धारणा का आधार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध ही है। इसके द्वारा लेखक ने सुन्दर-असुन्दर सत्य के दोनों स्वरूपों का विषद विवेचन किया है। उपन्यासों के पात्र केवल आदर्श की आकुलता से संचालित नहीं होते, वे यथार्थ का भी स्पर्श करते हैं। सभी पात्र हमी-आप में से लिये गये हैं, उनमें साधारण मनुष्यों की महानता और हीनता, दोनों के दर्शन होते हैं। यदि अपवादों को छोड़ दिया जाय तो आज का सामाजिक प्राणी पतन की ओर अधिक उन्मुख है। भारतीय स्त्री अपनी हृदय की दुर्बलता और पुरुष स्वार्थ की क्रीड़ा का शिकार है। इसके उद्‌घाटन में प्रसाद नितान्त यथार्थवादी हैं किन्तु अल्ट्रारियलिस्ट की भाँति वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। नाटकों में प्रसाद ने प्राचीन भारत की महत्ता का निदर्शन किया है और उपन्यासों में अर्वाचीन भारत की सामाजिक विषमता का।

प्रसाद के नाटकों की समालोचना करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा था कि इन पुरानी बातों से देश का क्या लाभ होगा? गड़ा मुर्दा उखाड़ने से क्या कल्याण? इन प्रश्नों का उत्तर प्रसाद ने अपने उपन्यासों के द्वारा दिया है। उनके उपन्यासों के सभी पात्र समाज के अभिशाप से संतप्त और व्यक्ति के विकास की आस्था से आश्वस्त हैं। पात्रों की

आधुनिक

जीवन-लीला का परिवेक्षण करने के पश्चात् सामाजिक कुरीतियों के प्रति घृणा का भाव उभाड़ने में लेखक ने कमाल हासिल किया है। उपन्यासों के निष्कर्ष नवयुग के पोषक हैं। पात्रों की बातचीत में नवयुग के अंतःकरण से निकली हुई वाणी की प्रतिध्वनि प्रत्यक्ष हो उठती है। जिसमें प्रेम को व्यवसाय के ऊपर स्थान दिया गया है और व्यापारिक विवाह की भावना पर जिसने हमारे जीवन को मृतक सा बना दिया है कुठाराघात किया गया है। स्वतंत्र प्रेम की सम्भावना तभी हो सकती है जब स्त्री-पुरुष दोनों स्वतंत्रता का अनुभव करेंगे। स्वतंत्रता का आधार उच्छृंखलता नहीं, संयम है।

इसी के सुदृढ़ आधार पर खड़ा होकर 'कंकाल' में समाज से विद्रोह के साथ लेखक, व्यक्ति की निवृत्ति-साधक संस्कृति की अव्यावहारिकता पर भी अपना आक्रोश प्रकट करता है। इस प्रकार 'कंकाल' स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की व्यावहारिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत विकास की कर्मठ प्रेरणा का शक्तिशाली आयोजन करता है। उसका कला पक्ष सौन्दर्यमय और निर्दोष तथा आकर्षक है। किसी भी सामाजिक संस्था, प्रणाली या व्यवस्था में उसकी आस्था नहीं है। उसका दृष्टिकोण एकान्त व्यक्तिवादी या व्यक्तिनिष्ठ है। प्रसाद और प्रेमचन्द के समाज में मूलतः कोई अन्तर नहीं किन्तु प्रेमचन्द ने उसकी ऊपरी सतह का चित्रण अधिक किया है और प्रसाद ने उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द की गति यहाँ नहीं, वे सामाजिक व्यवस्था के आगे नहीं बढ़ सके किन्तु उनसे बहुत आगे जाकर, समाज की रूढ़ पद्धति को तोड़ कर नवीन निर्बाध स्वातंत्र्य और मानवीयता का, प्रसाद ने उद्घाटन किया है। जनसत्तात्मक भावों की स्थापना प्रसाद के साहित्य में है। प्रेमचन्द यदि आधुनिक भारतीय समाज के चित्रकार हैं तो प्रसाद आधुनिक मानवता के उद्बोधक।

कथासाहित्य

अँग्रेज़ी-साहित्य में गाल्सवर्दी के नाटक, व्यक्ति पर समाज के बोझ का दुष्परिणाम दिखाते हैं किन्तु अर्थ-कष्ट की समस्या से आगे उनका क्षेत्र नहीं है। प्रसाद जी जिस समाज-पीड़ा का उल्लेख करते हैं वह हमारे जीवन की प्रत्येक सँध में समाई हुई है। उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया व्यक्ति के मन में समाजोच्छेदन के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकती। व्यक्ति, अपनी शक्ति से समाज पीड़ा को पार करने का उपक्रम करता है। एनार्किस्ट बेकुनिन भी शासन-सत्ता का सर्वथा विनाश करना चाहता था, प्रिन्स क्रोपाटकिन की भी कुछ ऐसी ही मंशा थी। प्रसाद भी सामाजिक तथा राजनीतिक कुसंस्कारों का प्रतिकार करने के लिये व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रतिपादन करते हैं। यह स्वातंत्र्य बुद्धि जन्य होते हुये भी हृदय के संस्कारों का विरोधी नहीं है, अधिकार पक्ष और कर्तव्य पक्ष दोनों का निर्वाह उसमें है। चरित्रों की सृष्टि स्वयं समाज के प्रति व्यंगमय और व्यक्ति के प्रति कर्तव्य-मय है। जातीयता की दृष्टि से वे सब वर्णशंकर हैं, व्यक्ति के हिसाब से सब उच्छृंखल।

'कंकाल' की सब से भारी विशेषता यह है कि इस पश्चिमी सभ्यता से आकंठमग्न युग में भी इसका सम्पूर्ण वातावरण और विचार-पद्धति शुद्ध भारतीय है। इसी कारण उसका उद्देश्य सुधार नहीं, क्रान्ति है। वर्णव्यवस्था, जाति व्यवस्था, जन्म-जात अभिमान व्यवस्था आदि सभी प्रभावों में 'कंकाल' क्रान्ति की लहर फैलाना चाहता है। सामन्ती दर्शन, त्याग और संतोष का उसमें आभास नहीं है। 'कंकाल' हृदय-परिवर्तन और समाज-सुधार के लिये तर्क नहीं देता बल्कि एक संघर्ष का आयास करता है। प्रमुखतः स्त्री पुरुष सम्बन्ध के माध्यम से कथानक को गति मिलती है। उपन्यास के प्रारम्भ में 'तारा' की उक्ति इसके औचित्य का अन्यतम उदाहरण है। "भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शैय्या पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़ कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया और न तो मैं कलुषित हुई"। यद्यपि वह, समाज का

आधुनिक

सार्टीफिकेट विवाह के रूप में नहीं प्राप्त कर सकी थी किन्तु उसका जीवन प्रथम प्रेम की उपासना में अटल था । विवाह-बन्धन में इसकी अनुभूति कहाँ ?

जहाँ एक ओर हमें प्रेम की स्वतंत्रता को स्वीकार करना पड़ता है वहाँ दूसरी ओर किशोरी और श्रीचन्द्र के विवाहित जीवन में विवाह-संस्था की अपूर्णताओं का अध्ययन करने का अवकाश भी मिलता है । पुत्र-कामना से प्रेरित किशोरी को निरंजन जैसे महान् धूर्त महात्मा की शरण लेनी पड़ती है । उपर्युक्त विवशताओं के प्रदर्शन, चित्रण से प्रसाद का उद्देश्य सामाजिक जीवन में अनियम फैलाने और वर्णसंकरता को आश्रय देने का नहीं है । वे तो प्रेम को अपने उच्च आसन पर बैठाने के पश्चात् जीवन को संयमित तथा नियमित देखने की आकांक्षा रखते हैं । इसी कारण मंगल और गाला को प्रेम-सूत्र में बाँधकर एक सामाजिक रूप देने की उन्होंने चेष्टा की है, जहाँ न कोई बाह्य आडम्बर है और न व्यवधान । व्यक्तियों का यह निरूपण सम्पूर्ण मानवता की सेवा का साधन है, शिव और शक्ति का सम्मेलन है ।

'कंकाल' का दूसरा दृष्टिकोण, हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति का मार्मिक चित्रण करना है । आरम्भ में गुलेनार के रूप में तारा पुरुषों के मनोविनोद का साधन थी, उसका कोई अपना अस्तित्व नहीं था वह केवल कामी पुरुषों के हाथ की कठपुतली थी । गुलेनार का जीवन अबला स्त्री के पतन की पराकाष्ठा है और तारा का समस्त जीवन अबला के रुदन का इतिहास । तारा ने केवल एक भूल की थी—"मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न कर लिया और कुछ मंत्रों से लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया, पर किया था प्रेम" । इसी एक भूल के कारण तारा की सारी सामाजिकता विलीन हो गई । एक जगह घंटी कहती है—"हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें उनके लिये कोई अधिकार हो तब

तो सोचना विचारना चाहिये। और जहाँ अंध-अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है···उसे क्यों छोड़ूँ ? स्त्रियों को मरना पड़ता है, तब इधर उधर देखने से क्या ? 'मरना है', यही सत्य है, उसे दिखाने के आदर से व्याह करके मरा लो या व्यभिचार कह कर तिरस्कार से"। जमुना का कथन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है—"कोई समाज स्त्रियों का नहीं बहन ! सब पुरुषों के हैं, स्त्रियों का एक धर्म है, आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिये यही पूर्णता बना दी है"। प्रसाद ने कई स्थलों पर स्त्री-पुरुषों की असमानता पर कठोर व्यंग किया है—पुरुष उन्हें इतनी शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो, घरों के भीतर अंधकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें अत्याचार के पर्दे में छिपाई जा रही हैं। नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।

इस प्रकार प्रसाद ने सामाजिक असमानताओं, कुरीतियों और धार्मिक दुर्व्यवहारों के प्रति घृणा उत्पन्न करके उस नये पथ का भी संकेत किया है जहाँ से मनुष्य मात्र नवजीवन का प्रसार और प्रचार कर सकता है। इसके लिये झूठी महत्ता का त्याग करके धर्मवाद और जातिवाद को जड़ से उखाड़ कर फेंक देना होगा। स्त्रियों को उनके उचित अधिकार देकर उनके साथ न्याय करना होगा। 'भारत संघ' की स्थापना का यह उद्देश्य स्मरणीय है—"घरों के पर्दे की दीवारों के भीतर नारी जाति के सुख स्वास्थ्य और संयत-स्वतंत्रता की घोषणा करें। उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलायें। हमारा देश इस संदेश से—नवयुग के संदेश से—स्वास्थ्य लाभ करे। आर्य ललनाओं का उत्साह सफल हो, यही भगवान से प्रार्थना है"। यही भारत के उज्ज्वल भविष्य का आदर्श है। इसी पर समाज की नींव पड़ सकती

आधुनिक

है। 'कंकाल' का मुख्य सन्देश है—स्त्रियों का सम्मान करना, उनकी समानता को स्वीकार करना और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों को सक्रिय विरोध के द्वारा रोकना। जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक संकीर्णता के ऊपर स्त्री-पुरुष के नैतिक आभिजात्य और उसके व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थन पानी में तेल की तरह उतराता है। वास्तव में 'कंकाल' जागरण युग की श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है।

विचारों की इस महत्ता के बाद 'कंकाल' को उसकी औपन्यासिकता के दृष्टिकोण से भी देखना अनुपयुक्त न होगा। यह एक घटना प्रधान उपन्यास है, बहुत सी घटनायें घटती हैं। देवनिरंजन और किशोरी की एक कथा है, मंगल और तारा की एक दूसरी। दोनों कथाओं को कुशल चित्रकार की भाँति, रंगों को मिलाने की चेष्टा है। इसके भीतर दो तीन उपकथायें भी हैं। इस कारण इसकी कथा-वस्तु में एक शिथिलता है, विशृंखलता है, सारी कथा एक कथानक का विकास नहीं है, एक दूसरे का सम्बन्ध घटनाचक्र द्वारा होता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रसाद सब से पहले कवि हैं, बाद को कुछ और। उनकी कृतियों में काव्य की भावात्मकता अनिवार्य है, 'कंकाल' भी इसका अपवाद नहीं। प्रगतिशील ओजमय विचारों की काव्य-लड़ियाँ 'कंकाल' में यत्रतत्र फैली हैं, उनके संगठन से प्रसाद के महान् व्यक्तित्व का पता चलता है और हम सभी उनकी शक्तिशाली प्रतिभा के कायल हो जाते हैं, पर कानों में जैसे धीरे से कोई कह जाता है—'काश कि 'कंकाल' भी काव्य होता'!

विचारों के महत्व से नहीं, किन्तु कथानक की सुसंगति और स्वाभाविक विकास की दृष्टि से 'तितली' अधिक सफल उपन्यास है। 'तितली' एक ग्राम का चित्र है, इसमें एक ग्राम के दो प्राणियों के चारों ओर सारा चक्र चलता है। बंजो और मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसके प्रधान पात्र हैं। तितली का स्वभाव ही मधुवन में मूल

करना है और बाकी सब पात्र इस नृत्य के दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी और अनवरी आदि नगर से आते हैं और लौट जाते हैं। 'कंकाल' में घटनाओं की प्रधानता है और 'तितली' में कथा का प्राधान्य है।

इसे यों भी कहा जा सकता है कि 'कंकाल' का कथानक घटनाओं से बनता है और 'तितली' की घटनायें कथानक से बनी हैं। 'कंकाल' के पात्र कुछ दार्शनिक विचित्रता लिये हैं किन्तु 'तितली' के सभी पात्र स्वाभाविक हैं। 'कंकाल' के गोस्वामी जी और 'तितली' के बनजरिया वाले बाबा जी में अद्भुत साम्य है। 'तितली' में प्रेमचन्द के उपन्यासों 'रंगभूमि', 'गोदान' के सभी प्रसंगों का समावेश मिल जाता है किन्तु सत्याग्रह-आन्दोलन का स्पर्श प्रसाद ने नहीं किया। चरित्र-चित्रण, कथावस्तु का विकास और उसका नाटकीय निर्वाह 'तितली' की अलग विशेषता है। पात्रों के मानसिक घात प्रतिघात का विश्लेषण इसमें प्रेमचन्द से अधिक है। जीवन-यात्रा के बाह्य उपकरणों का प्रसाद ने उतना ध्यान नहीं रखा जितना आन्तरिक अवस्थाओं का। 'तितली' में आज के भारतीय नर-नारी का यथार्थ चित्रण है।

प्रेम सम्बन्धी विविध प्रश्नों का उद्घाटन प्रसाद ने किया है, उत्तर की उतनी आकुलता नहीं दिखाई। शायद प्रसाद को मालूम था कि समाज की अधिकाँश समस्यायें नित्य हैं। प्रसाद का जीवन नगर में बीता है पर 'तितली' में ग्रामों की ओर उनका झुकाव स्पष्ट है। फिर भी ग्राम-जीवन का चित्रण इसमें उतना सफल नहीं, जितना सफल ग्राम-सुधार की समस्याओं का स्पष्टीकरण। मधुबन ग्रामीण निवासी के रूप में बहुत खरा उतरता है। 'तितली' में स्त्रियों के चरित्र पर लेखक ने विशेष ध्यान दिया है। प्रसाद की नारियाँ प्रायः दुर्बल हैं किन्तु अस्वाभाविक नहीं। जिस भाँति शेक्सपियर की नारियाँ पुरुषों के कल्याण

आधुनिक

का कारण बनती है उसीप्रकार प्रसाद की स्त्रियाँ पुरुषों के अंधकारमय जीवन में प्रकाश की रेखा का काम करती हैं।

स्त्रियों में 'तितली' का चरित्र बहुत ही शक्तिशाली है। वह पर्वत सी अटल, सागर सी गम्भीर और पृथ्वी की तरह सहिष्णु है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का 'तितली' में भारतीय आदर्श है। प्रसाद जी ने स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की उत्तम अवस्था, विवाह ही को माना है। 'पुरुष और स्त्री का समाज में स्थान और सम्बन्ध इस उपन्यास की मूल चेतना है। चरित्रों के विकास में प्रसाद ने नियति को स्वीकार करके एक बहुत बड़ी बाधा उपस्थित कर दी है। सभी पात्र किसी अव्यक्त सूत्रधार की डोरी द्वारा कठपुतली की तरह नाचते फिरते हैं, करना चाहते हैं कुछ और, कर जाते हैं कुछ और। यह पात्रों की विडम्बना है।

प्रसाद के उपन्यासों के उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि दोनों ही उपन्यास नारी जाति की निरीह पुकार हैं। इसके लिये प्रसाद को कभी उपदेशक बनकर सामने नहीं आना पड़ा। चरित्रों की गतिविधि से स्वयं पाठकों को स्थिति विशेष से राग या विराग पैदा हो जाता है। किसी एक आदर्श का अभाव आदर्श की कल्पना कराने में समर्थ होता है, यह लेखक का अपूर्व कौशल है। उपन्यासकार की हैसियत से भी प्रसाद आधुनिक युग में किसी से कम नहीं क्योंकि उपन्यासों में विचारों की उस प्रगति का उन्होंने समर्थन किया है जिसे भावी युग अपना कंठहार बना कर गौरवान्वित होगा। इसमें मुझे सन्देह नहीं।

प्रसाद के उपन्यासों में चित्रोपम सार सूक्तियाँ, आधुनिक समय की भिन्नमुखी जीवन समस्यायें, भारतीय संस्कृति की योजनायें, उनकी सहज भाव प्रवणता के माध्यम से सामने आकर एक अप्रत्याशित आकर्षण की सृष्टि करती हैं। भावों के संचरण में वे सिद्धहस्त भावयोगी हैं। अध्ययन और अनुभव की संपन्नता के संयोग से भावनाओं का जिस

कोमलता कठोरता का प्रसाद ने उद्घाटन किया है, वह इस संसार की विपन्नता ग्रस्त स्थिति में, एक मनोरम विश्रामस्थल की भाँति शान्ति का सन्देश देने में अचूक है। मनोभावों के आन्दोलन से प्रभावित, तन-मन की प्रत्यक्ष स्थिति के शब्द-स्वरूप देने में प्रसाद बेजोड़ हैं। उनके उपन्यासों का यही साध्य है।

'इरावती' नाम का उनका अधूरा उपन्यास भी प्रकाशित हो गया है। उसके प्रकाशित अंश को पढ़ने से पता चलता है कि प्रसाद जी इस उपन्यास में एक नवीन कथा-चेतना का आयोजन करने वाले थे।

आधुनिक

निराला

प्रसाद की भाँति निराला भी आधुनिक साहित्य की महान शक्ति हैं। उनकी प्रतिभा विविधतामयी है। नाटक को छोड़कर साहित्य के सभी अंगों को निराला जी ने अपनी प्रतिभा का दान दिया है। निराला का मूल संस्कार सांस्कृतिक है। वे साहित्य-सृजन के साथ उसकी विवेचना में भी अभिरुचि रखते हैं। आत्मबल की दृढ़ता और भारतीय दर्शन की सूक्ष्मता उनके साहित्य का स्वभाव है, किन्तु ज्ञानीदार्शनिक की अपेक्षा वे भावात्मक आकर्षण के अधिक निकट हैं। उनके साहित्य का यह जीवनोपयोगी आकर्षण उन्हें कोमलता और मधुरता की अपेक्षा शक्ति का उपासक बनाने में सहायक हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

शक्ति-संगठन में भावना की अपेक्षा बुद्धि की अधिक आवश्यकता रहती है, स्वभावतः निराला का साहित्य बुद्धि की विशिष्टता से सुसज्जित है। इसका यह आशय नहीं कि उनके साहित्य में भावना का उत्कर्ष नहीं। दार्शनिकता के विस्मरण में निराला भावना के जिस मार्मिक स्पर्श का उद्घाटन करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावना की उच्चता के लिये उनका काव्य और बौद्धिक जिज्ञासा के लिये उनका गद्य पाठनीय है। करुणा, निराला के साहित्य की चिरसंगिनी है जो उनके व्यक्तित्व की तटस्थता से और भी अधिक करुण बन गई है। जीवन-सौन्दर्य की कल्पना ने करुणा से धुलकर निराला के साहित्य में जितना निखार पाया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सम्भवतः इसी कारण उनके पूरे साहित्य में पाठकों को रंग कम और प्रकाश अधिक मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके साहित्य का यह प्रकाश ओज और सौहार्द से समन्वित है।

कथासाहित्य

निराला के कथा-साहित्य की ओर अभी तक लोगों ने कम ध्यान दिया है, शायद इसका कारण उनके साहित्य-क्षेत्र की अपरिमितता है। यों भी इधर कुछ वर्षों से कवि और काव्य का ही हमारे साहित्य में महत्व रहा है, और कथा-साहित्य एक उपेक्षणीय अवस्था का शिकार। संतोष का विषय है कि अब इस ओर भी लोगों का ध्यान गया है। कल्पना से जीवन की ओर, भावना से विचारों की ओर बढ़ना स्वाभाविक भी है। 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'कुल्लीभाट' 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि निराला की औपन्यासिक रचनाएँ हैं। 'चमेली' उपन्यास का एक परिच्छेद 'रूपाभ' में निकला था। इसके अलावा उनकी कहानियों के भी कई संग्रह निकल चुके हैं। 'सुकुल की बीबी' तथा 'गजानन्द शास्त्रिणी' उनके सफल व्यंगमय जीवनचित्र हैं।

निराला जी की, सभी उपन्यासों में नारी-चित्रण एक विशेषता है। वर्तमान युग के नारी-जागरण को निराला ने अपनी औपन्यासिक ममता दी है। इस जागरण (क्रान्ति) की आवेग-अन्धता को छोड़कर निराला ने उसके स्थायी तत्त्व की अधिक छान-बीन की है। प्रेम के आधार-स्वरूप आत्म-समर्पण ही नारी-जीवन की सार्थकता है। नारी-प्रकृति परिचालित इसी प्रेम के निराला चित्रकार हैं। शिक्षा, संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ प्रेम को सुदृढ़ स्वरूप देने का निराला ने प्रयत्न किया है। यही कारण है कि प्रेम की आधुनिक दुर्बल विकलता और विह्वलता की अपेक्षा उनकी कृतियों में हमें प्रेम की सौम्यता (आध्यात्मिकता) का आग्रह अधिक मिलता है और अन्य विषय केवल प्रासंगिक बनकर अपनी उपस्थिति देते से जान पड़ते हैं; उनका उद्देश्य जीवन-व्यापी स्नेह-भावना का संगठन है, न कि उसकी विकृतियों का उल्लेख। वे जीवन की मूल चेतना का उत्कर्ष चाहते हैं, उसके अपकर्ष की व्याख्या से उनका संबंध नहीं। निराला की सबसे बड़ी

आधुनिक

विशेषता उनकी शृंगारिक शिष्टता है, क्योंकि शृंगार के किसी स्वरूप में हमें उनके मानसिक दौर्बल्य के दर्शन नहीं होते—वासना की मुक्ति-मुक्ता भी त्याग में तागी दिखाई पड़ती है।

निराला की सभी नायिकाएँ उनके भाव-जगत् की प्रतिमाएँ हैं, इसीलिये वे रोमान्टिक भी हैं। अपने भाव के इसी विस्तार के लिये निराला ने कुछ विशेष घटनाओं की भी योजना की है, जो प्रतिदिन की घटनाओं से कुछ भिन्न और विचित्र सी भी लगती हैं, किन्तु जीवन के रहस्यमय विकास की उनमें कमी नहीं। प्रसिद्ध रोमान्टिक लेखक स्टीवेन्सन का जो महत्त्व है, निराला का उससे कम नहीं, क्योंकि भावना की उसी मृदुता का मोह उन्हें भी है। निराला के उपन्यासों को पढ़ते समय हमें स्मरण रखना होगा कि वे कवि पहले हैं, उपन्यासकार बाद में। कवि की जो सामाजिक तथा राजनीतिक भावनाएँ कविता में अपनी प्राण-प्रतिष्ठा कर सकीं वे ही एक समस्या के रूप में उपन्यासों में उतर आई हैं।

समाज-सुधार के प्रश्न को लेकर वेश्या की मार्मिक करुण स्थिति और उसके उत्थान का चित्र निराला ने 'अप्सरा' में खींचा है। राजनीति के क्षेत्र में वे गाँधी का आदर्श अनुपयुक्त समझते हैं। उसमें उन्हें किसानों के हितसाधन की संभावना नहीं दिखाई देती, जनता के उत्कर्ष का विश्वास नहीं होता, क्योंकि नेताओं में उन्हें आडंबर का आधिक्य और सत्य की क्षीणता दिखाई पड़ती है। उनके सामने एक दूसरे प्रकार के किसान-कार्यकर्त्ताओं का आदर्श है, जिसके दर्शन हमें 'अलका' में मिलते हैं। गाँधी की महानता और उनके देश-प्रेम से किसी का कोई विरोध नहीं हो सकता, किन्तु मानवता के कल्याण के लिये अन्य मार्गों का संकेत कोई अपराध भी नहीं है, क्योंकि उद्देश्य मर्ज़ का अच्छा करना है, नकि वैद्य विशेष की दवा करना। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली को, बेकारी बढ़ाने वाली संस्था कहने वाले को हम शिक्षा का विरोधी नहीं

कह सकते। इसीप्रकार देश-हित की गांधीवादी भावना के अतिरिक्त अन्य भावना को हेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी भावना के भीतर प्रवाहित प्राण-चेतना ही परीक्षणीय होती है, वाद विशेष नहीं।

हिन्दी साहित्य में प्रसाद और निराला अतीतकालीन भारतीय संस्कृति के बहुत बड़े हिमायती हैं। वास्तव में कलाकार को अतीत के ज्ञान और भविष्य के उत्थान-अनुमान के साथ वर्तमान का संचालन करना पड़ता है। निराला ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'प्रभावती' में भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का दिशा निर्देश करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि आज का युगधर्मी साहित्यकार एक आवेग की आकुलता में अतीत के प्रति उदासीन-सा हो रहा है, तथापि यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी मानवीय नव-विधान अपने अतीत की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतीत की त्रुटियों और विवशताओं की पृष्ठिका पर ही तो वर्तमान का संशोधित निर्माण होता है। धनुष पर चढ़ा बाण जितना ही अधिक पीछे खींचा जायेगा उतना ही अधिक गतिशील होकर वह लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा। युग-साहित्य भी अतीत की सीमा-रेखा से ही अपनी गति का संचालन करेगा। साहित्य में जीवन-प्रद तत्त्व कभी पुराने नहीं पड़ते। भारत का एक सांस्कृतिक उज्ज्वल अतीत है, जो वर्तमान की गतिविधि में सहायक हो सकता है। निराला ने इस तत्त्व का प्रभावपूर्ण उद्‌घाटन किया है।

भारतीय संस्कृति के प्राणों का एकत्व, समत्व और प्राणी-मात्र के ममत्व का भाव उनकी कृतियों की सबसे बड़ी विशेषता है। निराला जी के उपन्यासों में उनके कवि का ही प्राधान्य है, क्योंकि उनमें वे प्रेम की गाथाओं का ही अनुसंधान करते हैं। कमल-पत्र में जल की भाँति उनका निर्लिप्त-सौन्दर्यान्वेषण उनके उपन्यासों में भी परिव्याप्त है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में सौन्दर्य के अनेकों चित्र, कल्पना के अनेकों रंगमय रूपक और दृश्यों के अनेकों भावनात्मक स्वरूप देखने

आधुनिक

को मिलते हैं। अनेक सामाजिक राजनीतिक तथा साहित्यिक आघातों के पश्चात् भी निराला ने अपने व्यक्तित्व की कोमलता को नहीं छोड़ा, यह उनके हृदय की विशालता का प्रमाण है। स्नेह की स्निग्धता और कोमलता के बीच में निराला ने आधुनिक जीवन की विपन्नता और कृत्रिमता के लिये जिन व्यंगों का व्यवहार किया है, उनका इतना स्वस्थ और निरपेक्ष प्रयोग अन्य किसी साहित्यकार से नहीं बन पड़ा। उनके व्यंग अपने प्रभाव और मार्मिकता में अद्वितीय होते हैं। व्यंगों के द्वारा जीवन और जगत् की वास्तविक और स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण निराला की महत्त्वपूर्ण देन है। निराला ने इन व्यंगों में अपनी विद्रोह-शक्ति का समन्वय करके उनकी सार्थकता को और अधिक बढ़ा दिया है, विशेषता यह है कि इनकी चोटें राग-द्वेष से अछूती, शुद्ध-सुझाव की समर्थक हैं।

निराला जी के उपन्यासों की दो कोटियाँ हैं। एक की दिशा जीवन की सरसता के माध्यम से उसकी काव्योचित (रोमान्टिक) स्थापना और दूसरे की चेतना भारतीय जीवन की समष्टिगत यथार्थ व्याख्या है। स्वभावतः पहले के दो उपन्यासों में शहर के प्रेमद्वन्द्व का आधिक्य और बाद की कृतियों में ग्रामीण जीवन की समस्याओं का उद्घाटन है। 'अप्सरा' से 'अलका' में और 'प्रभावती' से 'निरुपमा' में पहुँचते-पहुँचते निराला जी की कवित्वमय रोमान्टिक वृत्ति बहुत क्षीण पड़ती गई है, और वे भावुक कल्पना-जगत् को छोड़कर जीवन के सहज व्यावहारिक धरातल पर आरूढ़ हो गए हैं। प्रेमचन्द की भाँति निराला के उपन्यासों का भी ग्राम-पक्ष प्रबल है। जमींदारों की निर्ममता, बेगार, लगान, कुर्की और ग्राम-संगठन की योजना आदि सभी के चित्र निराला ने दिये हैं।

'अलका' में किसानों की अस्थिर-स्थिति का सजीव चित्रण और उनके प्रति लेखक की हार्दिक सहानुभूति प्रेमचन्द के 'गोदान' से टक्कर

लेती है। 'गोदान' के होरी और 'अलका' के बुधुआ में बहुत कुछ साम्य है, दोनों ही भारत माई के लाल हैं। निराला के उपन्यासों के कथानक और चरित्र-चित्रण के विषय में भी दो शब्द कहना अनुचित न होगा। उनके प्रायः सभी कथानक-प्रेम की शाश्वत गति से संचालित हैं, थोड़े हेर-फेर के साथ सभी उपन्यासों में इसका आधार मिलता है। कथानक के अनुकूल उनके चरित्र भी एक ही स्वभाव और टाइप के बन गए हैं। सभी फक्कड़ तबीअत, पहलवान, सर्वभक्षी और निर्भीक हैं। स्त्रियाँ सभी रूपशील तथा स्नेह-सम्पन्न और संगीतज्ञ हैं। निराला का कोई पात्र बिना संगीत-कला की निपुणता के अपना विकास नहीं कर सकता। निराला की संगीत-प्रियता इनके जीवन की सब से बड़ी विशेषता है। कथोपकथन की नाटकीय प्रवृत्ति औपन्यासिक प्रवाह में कभी कभी बाधा उपस्थित करती है। अप्सरा से लेकर निरुपमा तक उनके उपन्यासों का यही क्रम विकास है।

अपने नवीनतम उपन्यासों (जीवन-चित्रों) में निराला ने यथार्थ जीवन की सहज-स्वाभाविक व्याख्या की है। 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' इस प्रयोग के प्रौढ़ और प्रोज्ज्वल उदाहरण हैं। कल्पनामय भावुकता और यथार्थ की वास्तविकता का साथ ही चित्रण करना निराला के व्यक्तित्व की महानता है। उनका जीवन स्वयं संघर्ष की तपन से प्रस्फुटित और विकसित है, शायद इसी कारण वे 'जुही की कली' और 'वह तोड़ती पत्थर' दो विरोधी और भिन्नवर्णी जीवन-स्थितियों का सफल स्वरूप सामने रखने में समर्थ हैं। उनके पिछले उपन्यास यदि 'जुही की कली' की भावना का उन्मेष करते हैं तो उनके नवीन चित्र 'वह तोड़ती पत्थर' की वास्तविकता के अधिक निकट हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है—"बनी विकलता कविता कवि की, कविता बनी कहानी"।

साहित्य में युग-परिवर्तन और जागरण की सूचना देने वालों में निराला का स्थान बहुत ऊँचा है। भारतीय साहित्य में ही नहीं, सारे

आधुनिक

विश्व-साहित्य में आज परिश्रम ही आराध्य और परिश्रमी आराधक हैं। स्वभावतः साधक और सिद्ध भी वही हैं। आज का साहित्य केवल कुछ जनों का न होकर जनता का हो गया है, यह बहुत ही शुभ लक्षण है। निराला ने 'कुकुरमुत्ता', 'खजोरहा' आदि कविताओं में इस तथ्य का स्वागत किया है। गद्य रचनाओं में 'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला के सामाजिक यथार्थ का उज्ज्वल उदाहरण हैं। इस उपन्यास में लेखक के व्यक्तित्व की सम्पूर्णता बड़े ही सहज भाव से सामने आई है। इसका कारण निराला की वह स्वाभाविक निरपेक्षता है जो उन्हें किसी विषय के अध्ययन की कलात्मक प्रवृति तथा प्रेरणा देती है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला की स्वाभाविक सहानुभूति के साथ सजीव रूप से घुल-मिल गयी है। इसके पढ़ने के पश्चात् लेखक की वैज्ञानिकों जैसी बुद्धि-व्याख्या, दार्शनिकों जैसी दूरदर्शिता और साथ ही कलाकारों जैसी संयम की उस शक्ति का भी पता चलता है जो उनके अपने विचारों की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होती है।

निराला मानव-समाज के प्रेमी हैं, उन्हें मानव-सत्य को चीन्हने की अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त है। विशेषता यह है कि निराला में समवेदनात्मक कल्पना की वह शक्ति भी है जो जीवन के कृत्रिम रूपों को ही नहीं, उसके असीम तथा अज्ञात रहस्यों को भी वास्तविक रूप में देखने की क्षमता रखती है। 'बिल्लेसुर' के चित्रण में निराला की इन सभी शक्तियों का सुन्दर समन्वय है। इसमें सन्देह नहीं कि निराला का साहित्य सदैव प्रगतिशील और प्रभावपूर्ण रहा है, किन्तु इधर की उनकी रचनाएँ एक सामूहिक चेतना के आधार पर ही खड़ी हैं। हवा, पानी और धूप लेकर ही तो अंकुर का विकास होता है, अन्यथा अंकुर की सृष्टि तो सहज नहीं होती। निराला के भीतर बीज-रूप से निहित मानव ममता और साहित्यिक सात्विकता अब यदि अपना सहज-स्वरूप पा रही है तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

कथासाहित्य

साहित्य के प्रत्येक स्वस्थ चित्र में विषय, पद्धति और कलाकार का व्यक्तित्व रहना आवश्यक है। विषय और पद्धति के चुनाव का अधिकार एकान्त रूप से कलाकार को है, किन्तु उससे उसके व्यक्तित्व का लगाव एक व्यापक रूप रखता है; क्योंकि कला में कलाकार का व्यक्तित्व, कौतूहल, विश्वास और धैर्य के सम्बल से संयमित होकर कला को सार्वभौमिक स्वरूप देने में सफल होता है। उसके व्यक्तित्व का यही चरमतम विकास है। इसके विपरीत जब कलाकार आत्मलीन तामसिक वृत्तियों के प्रवाह में पड़कर कला के माध्यम से आत्म-विज्ञापन करने लगता है तभी वह पराजित हो जाता है। व्यक्तिगत अभावजन्य ग्लानि और अतृप्ति का प्रदर्शन कला नहीं, एक बला है।

'बिल्लेसुर बकरिहा' गाँव का एक मार्मिक चित्र है। इसमें रोमान्टिक धरातल को एकदम छोड़कर निराला जी ने कठोर सामाजिक यथार्थ का अनुसरण किया है। सामाजिक विद्रोह और सामूहिक असंतोष का चित्रण ग्रामीण दरिद्रता के माध्यम से इतना अच्छा बन पड़ा है कि अभी तक हिन्दी में वैसा अन्यत्र नहीं है। इस गलित ग्रामीण चित्र में निराला जी ने सुधार का कोई सुझाव नहीं पेश किया, केवल वहाँ के शोषित, दलित तथा पीड़ित समाज का कंकाल सामने रख दिया है, जिसके दर्शन मात्र से उसके प्रतिकार की भावना मन में जागृत हो उठती है।

प्रेमचन्द की भाँति निराला ने सर्व-दुख-शमन का समझौता नहीं कराया, उन्होंने केवल चित्रण के माध्यम से स्थिति में क्रान्ति का बीज बोया है। इस दृष्टिकोण से 'बिल्लेसुर बकरिहा' एक प्रौढ़ प्रगतिशील रचना है। भाषा, भाव और उद्देश्य तीनों के दृष्टिकोण से निराला जी का यह स्केच अत्यन्त सहज-सरल और अनुपम है। बिल्लेसुर का सामाजिक संघर्ष से ऊपर उठकर अपने विवाह की सफलता का संतोष प्राप्त करना युग-चेतना का प्रतीक है। आधुनिक भारतीय गाँव का

प्रतिनिधित्व बिल्लेसुर के द्वारा बहुत ही यथार्थ रूप में हुआ है। काश कि बिल्लेसुर के धनी होने का राज भी खुल पाता। तब तो इस सामाजिक विद्रोह की तपस्या में चार चाँद लग जाते। निराला जी ने एक जगह लिखा है—"चिन्ता कुछ मुझे नहीं यद्यपि मैं ही वसंत का अग्रदूत"—वास्तव मे छायावादी वासंती और समाजवादी शारदी दोनों के निराला जी प्रौढ़ कलाकार हैं। उनकी प्रतिभा का जोड़ हिन्दी में दूसरा नहीं है।

जैनेन्द्र

मध्ययुग की अपेक्षा आधुनिक युग अधिक गतिशील है। अब समय और साहित्य में अधिक तीव्र स्फूर्ति समाहित हो गई है। आज मानव किसी पूर्व प्रतिष्ठित एकाधिकारी पर विश्वास नहीं करता उसे परिवर्तन के प्रति अधिक प्रतीत है। समाज के साथ वह व्यक्ति का महत्व भी स्वीकार करता है। समाजवाद के साथ व्यक्ति (अहं) का भी बिस्तार उसने किया है। अस्तु यदि प्रेमचन्द समाज के चित्रकार हैं तो जैनेन्द्र व्यक्ति के, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी कारण प्रेमचन्द गाँधी के साथ आदर्शवादी हैं तो जैनेन्द्र फ्रायड के साथ यथार्थवादी। प्रेमचन्द समाज की सामूहिक चेतना को जगाते हैं तो जैनेन्द्र व्यक्ति की आत्म-साधना को। उन्होंने खुद लिखा है कि वे कोई लम्बी कहानी नहीं कहना चाहते, वे तो केवल दो तीन व्यक्तियों के चित्र आप के सामने रखना चाहते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जो पिंड में है वही ब्रह्माड में है। समाज भी तो व्यक्तियों का संगठन है।

सामाजिक विश्वास (आदर्श) को व्यावहारिकता (यथार्थ) देने के लिये हिन्दी कथा साहित्य में प्रथम बार जैनेन्द्र ने व्यक्ति के माध्यम से उसे अध्ययन करने की चेष्टा की, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ पर इलाचन्द्र जोशी की घृणामयी (सन् २७ में प्रकाशित) हम नहीं भूल सकते। प्रेमचन्द का कथा साहित्य, आदर्श की दृष्टि से जहाँ गुप्त जी के काव्य का सहयोगी है वहाँ जैनेन्द्र का आध्यात्म महादेवी की आध्यात्म-परम्परा से प्रभावित। कवि (भावना) को साहित्य का अगुआ मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

आधुनिक

समाज सुधारकों द्वारा समाज की जिन कुप्रथाओं को दूर करने की चेष्टा बंगाल से प्रारम्भ हुई थी उसे हमारे समाज और साहित्य ने अपना रक्खा था। प्रेमचन्द के सामाजिक संघर्ष और उनके सुधारों की योजना का भी स्वरूप कुछ वैसा ही है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति का संघर्ष समाज के प्रति सचेत किया। शरद की भाँति प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन की झाँकी दी और उसे भारतीय संस्कृति, सौन्दर्य से सजाया किन्तु जैनेन्द्र ने फ्रायड की भाँति व्यक्ति का मुक्त (निरावरण) रूप समाज के सामने रखा, उसे आध्यात्म की चूनरी ओढ़ाने में उन्होंने कसर नहीं रखी।

प्रेमचन्द का सहित्य सुधार-मूलक है तो जैनेन्द्र का समस्या-मूलक। प्रेमचन्द में जीवन-पथ का निर्देशन है तो जैनेन्द्र में जीवन-पथ के निर्माण का आवेदन। जैनेन्द्र ने समाज के सामने प्रधानतः कट्टो, सुनीता, मृणाल और कल्याणी के रूप में चार प्रश्न उपस्थित किये हैं। उनके सभी प्रश्नों का केन्द्र भारतीय नारी है। हम इसी दृष्टि कोण से उनकी कृतियों का यहाँ अध्ययन करेंगे।

यह पहले कहा जा चुका है कि जैनेन्द्र व्यक्ति को लेकर गहरे से गहरे स्तर में पैठने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक जीवन की विभीषिका में भी जैनेन्द्र का व्यक्तित्व, घने अंधकार में दीपक की भाँति झिल मिलाता रहता है, अपने आलोक से आलोकित। जैनेन्द्र के सभी चरित्र मनोविज्ञान का अवगुन्ठन डाले हैं और यहाँ तक वे अस्पष्ट भी हैं।

अनेक अनुसन्धानों के लिये उनके प्रायः सभी पात्र असाधारण हो गये हैं। लेखक का उद्देश्य यहाँ समाज की सामान्य परिस्थितियों की उपेक्षा करना नहीं क्योंकि जैनेन्द्र आध्यात्मिक होते हुये भी पौराणिक नहीं हैं। यह उनके मनोविज्ञानिक सूक्ष्म विवेचन का आग्रह मात्र है। अपनी इसी खोज के पीछे जैनेन्द्र समाजवाद की अपेक्षा व्यक्तिवाद के और भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्म

के अधिक समीप पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि वे प्रेमचन्द की अपेक्षा गाँधी से दूर हैं, यहाँ उनका आध्यात्म भी व्यक्ति की भाँति आत्मलीन हो गया है। यही कारण है कि उनके उपन्यास, व्यक्ति की मनोदशाओं के मार्मिक और सूक्ष्म चित्रण के माध्यम से अपनी कलात्मक पूर्णता को पहुँच कर भी समाजवाद को नहीं स्पर्श करते।

समाज को छोड़कर व्यक्ति का प्रसंग उठाने से साहित्यकार को एक अपना दर्शन भी देना पड़ता है। जैनेन्द्र का भी एक अपना दर्शन है। सम्भवतः उनका दर्शन बुद्ध की करुणा और महावीर की अहिंसा से अपनी प्राण-प्रेरणा पाता है, अवश्य ही वह भारतीय आत्म-साधना और फ्रायड के मनोविज्ञान से भी पोषित है। जैनेन्द्र न तो समाजवादियों की भाँति सामाजिक (राजनीतिक) मानव को लेकर चलते, न तो आदर्शवादियों की भाँति सांस्कृतिक मानव को। उन्हें न देव चाहिये न दानव, उनका काम निरे मानव से ही चल जाता है।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने अपने लिये बहुत से सामाजिक तथा सैद्धान्तिक बन्धन बना लिये हैं, अपनी सहज स्वाभाविकता पर कृत्रिमता का आवरण डाल दिया है। इसके फल स्वरूप प्राकृत नानवीय भावनायें कुछ दुर्बल तथा क्षीण पड़ गई हैं और रूढ़ियों ने स्वाभाविकता का स्वरूप धारण कर लिया है। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक कथा-साहित्य ने मन को अधिक ममता दी है। मानव-मन केवल बुद्धि द्वारा निर्मित और निरूपित गति-पथ पर नहीं चलता, वह आवेगशील नदी की भाँति कभी कभी अपने नियमित कगारों की सीमा का उल्लंघन भी कर जाता है। मन की इस अनिश्चित और आश्चर्यमयी गति-विधि का अन्वेषण करने के लिये ही कथाकार को मनोविज्ञान का का आधार लेना पड़ा है। परिस्थितियों के प्रभाव से मनोभावों के विकास की कथा उसका साधन बन गई है। जैनेन्द्र की दृष्टि मन की इसी

आधुनिक

पकड़ पर जमी है। वे मानव-मस्तिष्क के साथ उसके हृदय की भी परख करना चाहते हैं।

आदि से लेकर अन्त तक प्रायः इनके सभी पात्र मनोभावों से संचालित विकास-पथ में स्वतंत्र हैं। रागों के मूल उत्स हृदय की उथल-पुथल और उसकी अभिव्यक्ति तथा व्यक्ति की प्रवृत्तियों का दमन और उसकी प्रतिक्रिया का बहुत ही विषद वर्णन जैनेन्द्र ने किया है। मानव मन के पारखी प्रेमचन्द ने लिखा था—"उनमें अंतःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोसने वाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट, जैसे बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो"।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में बुद्धि और हृदय (अंतस्) का, समाज और व्यक्ति का एक अविराम संघर्ष मिलता है। यही प्राकृतिक और कृत्रिम नियमों की विषमता उनके उपन्यासों की सब से बड़ी समस्या है। उनके पात्र व्यक्तिगत समस्या के सुझाव में पड़कर अशरीरी बन जाते हैं। उनके दार्शनिक विचार उनमें माँसलता नहीं भर पाते क्योंकि दार्शनिक दुरूहता पाठकों के लिये एक विरक्ति का कारण बन जाती है। साधारण पाठक मन की बहुमुखी रहस्यमयी गतियों के साथ दौड़ नहीं लगा पाता। जैनेन्द्र के पात्र अपना परिस्थितियों के वातावरण से असन्तुष्ट होते हुये भी प्रेम और अहिंसा के द्वारा उसमें घुलने-मिलने की चेष्टा करते हैं किन्तु आत्मत्याग ही उनको सफलता-असफलता का एकमात्र साधन बनता है। सभी उपन्यास दुखान्त अथवा सुखान्त की अपेक्षा प्रश्नान्त हैं। लेखक सभी सजीव प्रश्न चित्रों को पूर्ण व्यक्ति स्वातंत्र्य और साथ ही सब को अपनी समवेदनापूर्ण सहानुभूति भी देता है।

परख का आध्यात्मिक विवाह, सुनीता का आत्मिक पातिव्रत्य और कल्याणी का भीतर-बाहर का सामञ्जस्य इसी सहानुभूति का परिणाम है। इन घटनाओं की अवतारणा के कारण हम सहज ही में यह समझ सकते

हैं कि जैनेन्द्र को व्यक्ति की सात्विक वृत्तियों और आत्मिक सम्भावनाओं के प्रति एक आस्था है। यही कारण है कि लेखक के उद्देश्य की अपील मस्तिष्क के प्रति नहीं हृदय के प्रति होती है, बौद्धिकता की अपेक्षा वह भावुकता का स्पर्श करता है। मनस्तत्व के विश्लेषण में करुणा की स्थापना इनकी अपनी विशेषता है।

समाज-विधान से वैधव्य का उपहार पाकर भी नटखट और चंचल बालिका कट्टो अपनी मनोदशाओं के अनुकूल भीतर ही भीतर अपने अध्यापक को अपना समस्त अनुराग अर्पित करके सधवा बन बैठती है। इस आत्म-समर्पण में उसका अटल विश्वास है, सामाजिक जड़ता के ऊपर व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सन्देश है। अध्यापक (सत्यधन) परख का दुर्बल अंग है, एक लड़खड़ाता हुआ चल-चित्र है जिसे लेखक ने एक रहस्यात्मक आदर्शवादिता से जकड़ रखा है। विहारी जो नायक नहीं है, पाठकों की सहानुभूति का अधिक अधिकारी है किन्तु शायद उसे सहानुभूति चाहिये नहीं? जो भी हो, विहारी और कट्टो का चरित्र ही इस उपन्यास की सार्थकता के साधन हैं, इसमें कोई शक नहीं।

कट्टो में आदर्श नारी और विहारी में आदर्श पुरुष के दर्शन होते हैं। ये दोनों इन्द्रिय-जन्य भौतिक सुखों की सीमा से ऊपर उठकर एक आध्यात्मिक मनोलोक का निर्माण करते हैं, जहाँ वे माया-ब्रह्म की तरह दूर रह कर भी पास और पास रह कर भी दूर हैं। लेखक ने कट्टो के सम्मोहनमय समर्पण की असफलता की मनोवेदना और परलोक-साथी की साधना का अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभाव पूर्ण उद्‌घाटन किया है। नीति-विधान के वैधव्य और मनोविधान के सुहाग के झूले में कट्टो के मानसिक स्तरों का दोलन कलाकार की निपुणता का परिचय देता है, जिसके फल स्वरूप कट्टो विहारी को अपना साथी बना कर सधवा-विधवा ही बनी रहती है। कट्टो, प्रेम में केवल देना ही जानती है, ग्रहण की आकुलता उसमें नहीं। तो क्या उत्सर्ग ही उसका एक मात्र उद्देश्य है? तिरस्कृत और उपेक्षित

आधुनिक

होने पर भी क्या नारी विद्रोह करना नहीं जानती ? इन प्रश्नों का उत्तर जैनेन्द्र की भारतीय-दार्शनिकता है, इसी के सहारे कट्टो, सेक्स और समाज की सामान्य परिधि के भीतर रहते हुये भी इनके परे पहुँच जाती है।

आत्म-विकास और त्याग की भावना से ही कट्टो का शृंगार होता है। जिस प्रकार कट्टो अनुराग की बलिवेदी पर अपने स्व की बलि चढ़ा कर सेवा-धर्म की उदार गोद में शान्ति का साक्षात्कार करती है उसी प्रकार सत्यधन इस दुरंगी-दुनिया के माया जाल में पड़ कर अशान्ति का आलिंगन करता है। कट्टो से, लेखक की आत्मिक जिज्ञासा को तृप्ति मिलती है तो सत्यधन से, जीवन और जगत् की यथार्थ वास्तविकता को। सत्यधन की दुर्बलता कट्टो के चरित्र को और अधिक निखार देती है। जैनेन्द्र की यह विरोधाभाषी नाटकीय योजना उपन्यास की जीवन-चेतना बन गई है।

'परख' के विषय में जैसे जैनेन्द्र ने स्वयं लिखा है—जो हमारे भीतर की रुद्ध वेदना को, पिञ्जर बद्ध भावना को, रूप देकर आकाश के प्रकाश में मुक्त नहीं करता, जिसमें अपने स्व का सेवन और दान नहीं, वह साहित्य नहीं है। साहित्य का लक्षण रस है, रस, प्रेम है। प्रेम अहंकार का उत्सर्ग है। हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व स्व का उत्सर्ग"। कट्टो ने यही किया है। अपने हृदय का वास्तव-समर्पण और अन्त में प्रिय के पाने की भावना का भी उत्सर्ग। परख, मनीषी जैनेन्द्र के भाव-चित्रकार का सफल और सुन्दर प्रयास है।

'सुनीता' जैनेन्द्र जी का दूसरा उपन्यास है। इसमें भी तीन-चार पात्रों को लेकर कहानी आगे बढ़ती है। वे अपने सभी उपन्यासों में व्यक्त जीवन की परिस्थितियों की अपेक्षा अव्यक्त मन की भावना का विश्लेषण करने की चेष्टा करते हैं, उनके कुछ पात्र मन की ऐसी

शक्तियों से परिचालित होते हैं जो विश्लेषण के वैचित्र्य से एक अस्पष्ट विस्मय के रूप में सामने आते हैं। मन की मौज के अलावा इसका एक दूसरा भी कारण है। जैनेन्द्र ने प्रायः सभी पात्र मध्य वर्ग से चुने हैं। यह वर्ग समाज का सब से अधिक पीड़ित और रुग्ण वर्ग है। इसमें संघर्ष की भी कमी नहीं क्योंकि यह वर्ग उच्च वर्गीय सुख-साधनों की कामना में जितना महत्वाकाँक्षी है उतना ही निम्न वर्ग की विवशता से भयभीत। इन दोनों परिस्थितियों के वैषम्य की विकलता का वह प्रतीक है, अस्तु उसके बाह्य और अन्तर्जीवन में एक प्रकार की गोपनीयता अवश्यम्भावी हो उठती है। जैनेन्द्र के प्रायः पात्र ऐसे ही हैं।

'सुनीता' की भूमिका में पात्रों की दिव्यता का आग्रह किया गया है। किन्तु सुनीता और हरिप्रसन्न का व्यवहार कृत्रिम भाव प्रवणता के माध्यम से वासना का उद्रेक करता है जो भूमिका के वक्तव्य के प्रति स्वयं एक चुनौती है। यह तो मानी हुई बात है कि आधुनिक कथा-साहित्य का झुकाव मनोविज्ञान की ओर अधिक है किन्तु वह साहित्य का साध्य नहीं साधन मात्र है। जब कलाकार वैज्ञानिक या दार्शनिक बन जाता है तब उसकी कला संशयात्मक हो जाती है। 'परख' में भी पात्रों के गूढ़ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विधान है किन्तु उसमें कहानी का भी एक आकर्षण और संगठन है। पात्र-सभी अजीब होते हुये भी सजीव हैं, घटनायें स्वाभाविक और तर्क-संगत तथा उपयुक्त हैं। उपन्यास का उद्देश्य भी साफ है।

'सुनीता' में कथा के सहज विकास का ध्यान उतना नहीं रखा गया जितना विश्लेषण का। सारी कहानी पात्रों की वादविवादमयी दार्शनिकता से दबी है। हरिप्रसन्न को हम एक साथ ही शिल्पी, कलाकार, दार्शनिक एकान्तप्रिय और क्रान्तिकारी के रूप में पाते हैं किन्तु उसकी वास्तविक आकांक्षा का पता अन्त तक नहीं चलता। उसका मित्र श्रीकांत उससे भी अधिक रहस्यमय है। हरिप्रसन्न के जीवन-प्रवाह

को सोद्देश्य बनाने के लिये वह अपनी पत्नी को साधन बनाना चाहता है। उसे बाँधने के लिये सुनीता को रस्सी बनाना चाहता है। इस बन्धन की सम्भावना की प्रेरणा से वह इन दोनों को अकेले छोड़ देता है। सुनीता एक तीर से दो शिकार करना चाहती है किन्तु ऐसा होता नहीं और अन्त में उसे हरिप्रसन्न की वासना को दबाने के लिये नारी की जन्मजात लज्जा का भी परित्याग करना पड़ता है, शायद वासना को करुणा में बदल देने के लिये। कहानी के बीच-बीच में लेखक के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक खड्ढों को कूद-कूद कर पार करना पड़ता है। फिर भी परिश्रम सफल नहीं होता।

सुनीता का चरित्र भी अपने विषय में दुनिया को और अपने को धोखा देने का एक नियोजन मात्र है। उसे हम असाधरण और अलौकिक भी कह सकते हैं क्योंकि वह या तो देवी है या दानवी, उसे लेखक के हाथ की कठपुतली भी कहा जा सकता है। मानवी का उसमें आभास नहीं है। सारांशतः इस उपन्यास की घटनायें और पात्र सभी एक प्रकार की गोपनीयता में गायब हो जाते हैं, संसार के लिये वे अविश्वनीय भी हैं। उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं का चित्रण भी कला और सुरुचि की सीमा के भीतर ही श्लाघ्य है। इसमें सन्देह नहीं कि इस उपन्यास के पात्र व्यक्तित्व की स्पष्टता नहीं पाते, वे रहस्य, झिझक और मन के मायाजाल के धुँधलेपन में इधर उधर भटकते फिरते हैं। लगता है जैसे 'परख' की आध्यात्मिक उच्चता 'सुनीता' के ढोंग के गहरे गड्ढे में गिर पड़ी है।

'त्याग पत्र' इनकी तीसरी श्रेष्ठ औपन्यासिक रचना है। यह एक भयानक और हृदय को कँपा देनेवाली जीवन की दुखान्त विभीषिका के रूप में उपस्थित की गई है। इसकी नायिका मृणाल (बुआ) अपने भतीजे से प्रेम करती है। यह प्रेम भी रहस्य से खाली नहीं। या तो यह इतना ऊँचा और मानवातीत है कि इसे समझा नहीं जा सकता

या भावुकता की आड़ में वासना का वह विकृत रूप है जिसे समझने की जरूरत नहीं। लेखक के आदर्श और उद्देश्य से हमारा कोई झगड़ा नहीं, इसकी कथा का विकास कलात्मक श्रेष्ठता से संयोजित है और पात्रों का चरित्र सहज, स्वाभाविक, मानवीय। इसका अन्त भी जैसे को तैसा है। भेद-अभेद, स्व-पर, आदि तात्विक विवेचन को छोड़कर इसमें मानवीय सबलता-दुर्बलता के भीतर एक सामान्य मानव का हृदय अपनी चरम अभिव्यक्ति पाता है और यही इस उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता है। मनुष्य जीवन की वर्तमान और भावी स्थिति के सम्बन्ध में लेखक ने एक विचारपूर्ण पहेली को सुलझाने और उसके प्रत्यक्ष करने की महत्वपूर्ण योजना उपस्थित की है, इसे स्वीकार न करना अपने और लेखक के प्रति अन्याय करना है। अन्त में मृणाल का पतन जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के बीच में बड़ी खूबी से दिखाया गया है। निम्नश्रेणी के बनिये के साथ उसका भगना और नारकीय यातना के साथ मरना, मन को क्षुब्ध कर देनेवाली घटनायें हैं। यहाँ जैनेन्द्र की कला यथार्थ का आकुल आलिंगन करती है। वास्तव में त्यागपत्र लेखक की सुन्दर रचना है।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र को अच्छी सफलता मिली है। यह तो स्पष्ट ही है कि वे आधुनिक नारी की समस्या को लेकर चले हैं, इसे हम युग की मांग भी कह सकते हैं। 'कल्याणी' की समस्या कोई व्यापक समस्या नहीं है। कल्याणी विलायत से पति के साथ डाक्टरी पास करके आती है और यहाँ आकर डाक्टरी करती है। उसके सामने एक ओर विलायती ठाट-बाट और शिक्षा-संस्कृति की भौतिक चकाचौंध है और दूसरी ओर भारतीय गृहस्थी का प्राचीन आदर्श। दोनों का पालन करना आवश्यक है पर सहज नहीं। इन दोनों विरोधी आदर्शों की विषमता के द्वन्द्व में वह स्वयं समाप्त हो जाती है। यही इस उपन्यास की समस्या है। इस समस्या की अव्यापकता से हम इसकी उपेक्षा

आधुनिक

नहीं कर सकते क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव स्वरूप यह समस्या दिन-प्रतिदिन व्यापक होती जाती है। इसके उद्‌घाटन की सूचना जैनेन्द्र के द्रष्टा होने की गवाह है। मनोविज्ञान और आध्यात्म का आधिक्य भी इसमें नहीं है। इसमें मनस्तत्व का उपयोग चरित्रों के अध्ययन में सहायक है बाधक नहीं। ठीक भी है क्योंकि दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अन्वेषणों की जिज्ञासा-तृप्ति के लिये उपन्यास ठीक माध्यम नहीं, कहानी और चरित्र-चित्रण ही उसका सर्वमान्य साध्य है।

'अनाम-स्वामी' नाम का एक धारावाहिक उपन्यास जैनेन्द्र का निकल रहा है। उसके देखने से पता चलता है कि वे उपन्यासकार की अपेक्षा एक विचारक का रूप धारण करते जाते हैं। द्रष्टा का आत्मविश्वास बुरा नहीं पर उसके अहंकार में बदलने का भी डर लगा रहता है। जैनेन्द्र हमारे साहित्य के प्रतिभा सम्पन्न-कलाकार हैं। उन्होंने मनोविज्ञान के माध्यम से एक अंग विशेष की क्षति-पूर्ति की है किन्तु उनमें बहुत सी बातें खटकने वाली हैं। शैली का टेढ़ापन, संयम के नाम पर संकोच, भाषा का अंग्रेज़ी विन्यास आदि उनकी रहस्यात्मकता को और भी दुरूह बना देते हैं फिर भी यह संतोष की बात है कि जैनेन्द्र ने जीवन की इस भौतिकता के बीच में आत्मा का स्वर ऊँचा रखा है। वे न तो केवल विध्वंसक बुद्धिवादी हैं न अकर्मण्य आत्मवादी। वे मानव मन के भीतर पड़ी गाँठ के खोलने के निर्भीक पक्षपाती हैं, इस विषय में उनकी गति भी काफी है।

इनके उपन्यासों में "सामाजिक संस्कारों के रूढ़ नीति-बंधन, रूढ़ विवाह-पद्धति, रूढ़ आज्ञाकारिता और स्त्रियों की स्वतंत्रता आदि की सच्ची जाँच मिलती है"। उनकी सभी नायिकायें अपनी समस्या के सागर में स्वयं विलीन हो जाती हैं पर उनका यह बलिदान अर्थहीन नहीं होता। उनकी उत्सर्ग स्वरूप करुणा की व्यापकता से कोई इन्कार

नहीं कर सकता। सुन्दर सिद्धान्तों के लिये आत्मत्याग जीवन की असफलता का नहीं, सफलता का सूचक है। महादेवी जी के साथ मानो जैनेन्द्र जी भी कह रहे हैं—एक मिटने में सौ वरदान।

अन्त में मैं जैनेन्द्र की कृतियों के विषय में कुछ बातें बहुत स्पष्ट रूप से निवेदन करना चाहता हूँ। उनके सभी उपन्यास कुछ अधूरे से रह जाते हैं, उनके अध्ययन के पश्चात् हम किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचते, पता नहीं चलता कि आखिर लेखक चाहता क्या है? दूसरी बात जो बहुत खटकने वाली है, वह लेखक की कुछ पात्रों की विकृतियों पर अस्वाभाविक ममता है। 'परख' का सत्यधन, 'सुनीता' का श्रीकान्त मानवीय मानसिक दुर्बलताओं के प्रतीक हैं फिर भी उपन्यासकार ने उन्हें एक दार्शनिक उच्चता में स्थापित करने की चेष्टा की है। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हमें एक बात समझ लेने की आवश्यकता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिये लेखक जब स्वयं अपने मन की अज्ञात चेतनाओं का शिकार बन जाता है तब उसके विश्लेषण में बहुत-सी ऐसी कमियाँ आ जाती हैं जो लेखक कभी पाठकों के सामने नहीं रखना चाहता था। पात्रों की अन्तश्चेतना के विवेचन में लेखक को अपने अवचेतन मन से बहुत सतर्क रहना चाहिये अन्यथा वह पात्रों की विकृतियों में स्वयं एक रसनिमग्नता का अनुभव करने लगता है और पाठक पात्रों के रूप में लेखक को देखने लगते हैं। जैनेन्द्र जैसे लेखकों के लिये यह विधान और भी आवश्यक है क्योंकि वह अपने पाठकों से बहुत कुछ स्वयं समझ लेने का तकाजा करते हैं और पूरी बात कहने की अपेक्षा संकेत से अधिक काम लेते हैं।

अन्तःप्रेरणा और मानसिक संघर्ष में पड़े हुये व्यक्तियों के कोरे अध्ययन से उतना लाभ नहीं जितना उनके सन्तुलित विकास की भावना से क्योंकि प्रेय-श्रेय के सन्तुलन का दिशा-संकेत ही साहित्य का साध्य है।

आधुनिक

जैनेन्द्र के उपन्यासों का एक भी पात्र अपने आप पूर्ण नहीं है, दूसरे पात्रों से अलग करके देखने से उसका अस्तित्व एक प्रकार के छायालोक में विलीन हो जाता है। फिर इस तरह के परोपजीवी पात्र समाज के किस उपयोग में आवेंगे ? लेखक इस समस्या के सुझाव में पाठकों की कोई सहायता नहीं करता। इन गुत्थियों के सुलझाने में स्वयं उलझ जाता है। चरित्रों का सुस्पष्ट व्यक्तित्व निर्माण उपन्यासकार का पहला कर्तव्य है, इसे हम नहीं भुला सकते।

आशा है कि जैनेन्द्र जी भविष्य में अधिक सतर्कता से संचालित होकर उत्तम कोटि की कृतियों का सृजन करेंगे क्योंकि उनकी प्रतिभा का हिन्दी साहित्य को बहुत विश्वास और गौरव है।

इलाचन्द्र जोशी

चेतना जीवन का चिह्न है और जीवन, जिज्ञासा का आधार। कुतूहल और जिज्ञासा की प्रेरणा से जगत् में जीवन प्रवाहशील बना रहता है और इसीलिये जीवन की किसी कृति में इन प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहता है, इसमें सन्देह नहीं। साहित्य इसी जीवन की चिन्तित, अनुभूत और समवेदन से स्पष्ट हुई परम्पराओं तथा प्रणालियों का एक सुसम्बद्ध साक्षी है। उसे जीवन का संयोजित तथा सहानुभूतिमय व्यापक स्वरूप भी कहा जा सकता है। कथा, साहित्य की आदि वाणी है और उसी का विकास आधुनिक उपन्यास। प्रायः १८ वी शताब्दी तक साहित्य क्षेत्र में उपन्यास का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था किन्तु १६ वी शताब्दी में यह साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा। आज तो उपन्यास ही साहित्य हो रहा है। ऐसा क्यों ? का प्रश्न भी स्वाभाविक है। शायद इसका कारण यह है कि स्वकीया की भाँति अपने में पूर्ण और स्नेहशील होते हुये भी जीवन, परकीया की तरह काल्पनिक और हाव-भाव पूर्ण आकर्षण की तृप्ति साहित्य में पाता है। साहित्य में सब प्रकार के व्यक्तियों की रुचि की तुष्टि होती है व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष ही की नहीं, क्योंकि वह केवल व्यक्ति से नहीं समष्टि से सम्बन्ध रखता है। जीवन की विषमता और विशृंखलता साहित्य में पहुँच कर ऐक्य की सुगठित पीठिका पर आसीन हो जाती है और साथ ही उसमें कलाकार के व्यक्तित्व की आभा भी आलोकित हो उठती है। उसमें अपने रँग में सब को रँग लेने की क्षमता सहज सम्भव हो जाती है। उपन्यास-प्रियता का भी यही कारण है। इसके अलावा उपन्यास की रूप रेखा भी क्या कही जाय ? यह युग विधि विधानों

आधुनिक

का नहीं रहा परन्तु इस अनिश्चय से संतोष भी तो नहीं होता है।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के शब्दों में—"उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है"। उपन्यास विषयक जिज्ञासा को शान्त करने की क्षमता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मानव-चरित्र-चित्रण में कथाकार, इतिहासकार की भाँति कटु तथा निर्मम सत्य का ही उपासक नहीं वह तो सम्भाव्य सत्य का भी उद्घाटन करता है। कथाकार जीवन के विभिन्न पथों से पार होता हुआ जीवन को उसकी सारी समग्रता से ग्रहण करने की चेष्टा करता है। जीवन के सभी क्षेत्रों और अंगों का वह समवेदनमय स्पर्श करता है। उसका कार्य केवल चित्रण न होकर उद्देश्यमय चित्रण है, इसी कारण उसे सूक्ष्म निरीक्षण और सहानुभूति की अतीव अपेक्षा रहती है। यहीं यथार्थ और आदर्श का भी प्रश्न सामने आता है। चूँकि उपन्यास, साहित्य की नवीनतम अभिव्यक्ति है इसलिये स्वभावतः उसके मूल्याँकन का मापदन्ड भी कुछ नवीनता लिये होगा। पिछले जीवन और साहित्यिक नियमों, नीतियों और आदर्श की रूढ़ियों की कसौटी पर वह नहीं कसा जा सकता। फिर क्या वह एक दम जीवन का यथार्थ है। नहीं, क्योंकि निर्माण तथा सृजन की इच्छा ही एक आदर्श है। हिन्दी में ही नहीं उपन्यास को लेकर विश्व-साहित्य में भी यह विवाद चला था। उदाहरण के लिये अँग्रेजी का ही साहित्य ले लें। सन् १८६० तक उपन्यास साहित्य में आदर्शवादी डेकिन्स और थेकरे की महान महिमा थी। इनके अलावा अन्य उपन्यासकार भी जीवन की विश्वासमयी सहज समस्याओं का ही सुझाव सामने रखते थे। उनमें जीवन की आकुल-व्याकुल तरंगों, तुमुल कोलाहलमयी विषमताओं का एक भीषण संघर्ष तो है किन्तु अन्त में वह जीवन के माने हुये सिद्धान्त-सागर में विलीन हो जाता है।

जीवन के घात-प्रतिघात के पश्चात् उसकी आदर्शात्मक शान्ति निश्चित रहती है। एक अव्यवस्थित आँधी के बाद मलयानिल की परम्परा-मान्य परिस्थितियों का संचरण संरक्षित है। उनके उपन्यासों में बुराई की हार और भलाई की जीत आवश्यक है। शायद वे इसी कारण साहित्यिक की अपेक्षा उपदेशक से प्रतीत होने लगते हैं। प्रत्येक उपदेशक का साम्प्रदायिक (वर्ग-संघर्ष मुखापेक्षी) होना अनिवार्य सा हो उठता है, जो कलाकार की पराजय है।

अपने यहाँ उपन्यास साहित्य के अग्रदूत प्रेमचन्द तक यही प्रकृति पायी जाती है किन्तु साहित्य तो एक वर्ग, एक जाति तथा एक देश की संकुचित सीमा में सीमित न होकर विश्व-जीवन को गले लगाता है। (गाँधी और मार्क्स जीवन की इसी व्यापकता के दो छोर हैं एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक की भाँति) उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द भी जीवन से दूर की आदर्शवादिता के कारण वर्ग-संघर्ष की ओर ही अधिक उन्मुख थे, जीवन की सामूहिक चेतना की ओर नहीं। यद्यपि जीवन-दर्शन की प्रत्यक्षता ने, वैज्ञानिक खोजों की सत्यता ने और जीवन-व्यापी विषमता ने उनकी आँखों में चकाचौंध पैदा कर दिया था किन्तु वे पूर्ण रूप से उसके सहयोग में अपनी आत्मीयता नहीं दे सके। मूल परिष्करण की अपेक्षा पत्ते ही पोंछते रहे। उनके उपन्यासों की आत्मा समाज के किसी विशेष (स्तर) वर्ग की उलझनों को सुलझाने में ही व्यस्त रही। सेवासदन में वेश्या-वृत्ति का करुणात्मक चित्रण तथा नैतिक निरूपण बहुत ही सुन्दर है किन्तु उसका कारण कथाकार ने सनातन मानवीय प्रवृत्तियाँ न मानकर सामाजिक विफलताएँ माना है। पुरुष की आदिम विलासिता, जो वेश्या-जीवन के निर्वाह तथा उद्भावना का मूल है उसे वे सर्वथा भूल जाते हैं, इसी कारण उनका सामाजिक विषमता का विश्लेषण अधूरा और उनका सुझाव एकाँगी तथा अपूर्ण उतरता है। एक वेश्या का जीवन-सुधार उस वर्ग की समष्टि परिवर्तन

करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'रंगभूमि' का सूरदास बिना मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के, नैतिकता और आदर्श की उस भूमि पर पहुँच जाता है जहाँ हम उसे पहिचान ही नहीं पाते क्योंकि वह आदि से अन्त तक जीवन की हीनताओं से परे है। उपन्यास में उतना महान होते हुये भी वह जीवन में एक भिखमंगा ही रह जाता है। साहित्य और जीवन की यह दूरी ? प्रेमचन्द अपने पात्रों के चरित्र-निर्माण में जीवन का केवल उज्ज्वल पक्ष देखते हैं। वहाँ चाँदनी का ही चाव है, अँधेरी का अस्तित्व ही नहीं जो सत्य का दूसरा पक्ष है। जीवन के बड़े से बड़े प्रलोभनों को सूरदास इसप्रकार छोड़कर चला जाता है जिस प्रकार पारवारिक दैनिक कलह में अबोध शिशु माँ की गोद को। सम्भवतः इसी की प्रतिक्रिया 'कायाकल्प' में उन्हें जीवन की वास्तविकता के साथ कुछ अलौकिक विभूतियों को भी अपनाने की प्रेरणा देती है। उनका उद्देश्य भी सम्भवतः उतना चरित्र-चित्रण नहीं जितना सुधार। उनकी आत्मा नैतिक तथा सामाजिक सुधार की शारीरिकता में बही है, मानव-मन की सूक्ष्म मनोवृत्तियों की विरोधात्मक अभिव्यक्ति में उसका निवास नहीं है। इसका फल यह हुआ है कि उनके चरित्र तथा पात्र सार्वजनिक एवं सार्वभौमिक अमरता के अधिकारी नहीं हो पाये। वे मनुष्य के बीच रहने लायक मनुष्य हैं भी तो नहीं, वे तो देवताओं की श्रेणी में, मनुष्य से ऊपर देवलोक के निवासी हैं। जब कथाकार अपने पात्रों को मानवीय सहज मनोवृत्तियों की उपेक्षा करके आगे बढ़ा ले जाता है तब वे सच्चाई से उतनी ही दूर पड़ जाते हैं जितनी सेल्फ स्टार्ट कार से ढकेली हुई कार। यथार्थ की यह उपेक्षा और आदर्श की यह ममता, कलाकार को जीवन की सुचारुता के एक आग्रह-पूर्ण आन्दोलन का मुखिया तो बना देती है, पर उसे मानव-कल्याण की सामूहिक चेतना का चित्रकार नहीं बना पाती। प्रेमचन्द आदर्श के सर्वोत्कृष्ट उपासक होते हुये भी जीवन और जगत् के प्रति सदैव जागरूक रहे और 'गोदान' अपने अन्तिम उपन्यास में वे

जीवन के अधिक समीप हैं आदर्श के कम। जीवन की परिपक्वता के साथ उसकी व्यापक वास्तविकता को उन्होंने गोदान में बड़ी खूबी और कलात्मकता से अपनाया है। दुख की बात है कि यहाँ पहुँचते पहुँचते उन्होंने हमारा साथ ही छोड़ दिया, हिन्दी उपन्यास-साहित्य के सब से बड़े दुर्भाग्य का वह दिन था, इसमें सन्देह नहीं। फिर भी 'गोदान' प्रेमचन्द के औपन्यासिक व्यक्तित्व का सुदृढ़ प्रकाश-स्तम्भ है, इसे सभी स्वीकार करेंगे।

प्रेमचन्द के सम-सामयिक उपन्यासकार उनकी पार्श्व-छवि बनकर ही रहे, उसी महान् व्यक्तित्व के प्रति समर्पणशील अथवा स्नेहशील। प्रसाद, निराला, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा तथा अज्ञेय आदि ने इस क्षेत्र में अपना सुन्दर सहयोग दिया। अंग्रेजी में हार्डी की भाँति हिन्दी में सन् १९२७ में श्री इलाचन्द्र जोशी ने औपन्यासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति 'घृणामयी' के रूप में दी किन्तु वह उल्कापात की तरह अपनी क्षणिक आभा में ही समाहित हो गयी। जैनेन्द्र ने भी इस भावना को चरितार्थता देने का प्रयास किया किन्तु वे अपनी दार्शनिकता में ही डूब से गये। अपने दूसरे उपन्यास 'सन्यासी' में जोशी ने अपनी यात्रा का दूसरा कदम बढ़ाया। यहीं से हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक नवयुग का आरम्भ होता है। 'सन्यासी' मनोवैज्ञानिक सत्यों की खोज में जीवन के जिन गहन और अगाध स्तरों का उद्घाटन करता है, वे हिन्दी में एक दम नवीन तथा जीवन के लिये स्वास्थ्यकर और आवश्यक हैं। उनसे उपन्यासों के क्षेत्र में एक नवीन भावना का उद्बोधन और एक नयी शैली का आनयन होता है। जोशी के उपन्यासों में जीवन की आँधी उठती हुई दिखाई देती है और अन्त तक चलती भी रहती है। यह तो मानना ही होगा कि हर युग की समस्यायें अलग-अलग होती हैं किन्तु जीवन एक होता है। जीवन की कठिनाइयाँ नई तो नहीं होतीं किन्तु उनका रूप और अर्थ नया हो जाता है। 'सन्यासी' में यथार्थ की जीवन-भूमि पर मानव मनोभावों का सूक्ष्म तरंगाभिघात एवं जीवन

के मूल तत्वों का विश्लेषण और विवेचन अपनी एक खास खूबी रखता है। जीवन के बाह्य तथा अन्तर के भावों-प्रतिभावों का भीषण संघर्ष और उनका समुचित सामञ्जस्य हमें प्रथमबार 'सन्यासी' में मिलता है। इसका यह आशय नहीं कि जोशी अपने उपन्यासों में केवल जीवन का यथार्थ ही उपस्थित करते हैं। साहित्य-सृष्टि में किसी न किसी आदर्श का आधार तो लेना ही पड़ता है, किन्तु जीवन की सहज सम्भावना के बीच में ही वह आदर्श अपना विकास पा सकता है, जीवन से परे कल्पना लोक या देवलोक में नहीं। जोशी ने जीवन के बीच में यथार्थता की सीमा के भीतर आदर्श की स्थापना की है। उन्होंने केवल जीवन का सुनिर्मित, सुन्दर तथा सर्वाङ्गपूर्ण स्वरूप ही नहीं देखा, केवल शुक्ल पक्ष को ही नहीं स्वीकार किया वरन् जीवन-जाल के निदारुण अंधकार में पैठकर भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैलाया है। वे जीवन के उल्लास से अपरिचित नहीं किन्तु उसके विषाद से विचलित भी नहीं होते। वे अपने साहित्य में दोनों के सामञ्जस्यकार हैं। तभी तो विनाश और हत्या की यथार्थ मार्मिक वेदना को वे आदर्श की स्निग्ध छाया में स्थापित करके उसके करुण कंकाल को जीवन की स्वस्थ मांसलता दे देते हैं। उनके उपन्यासों की धारा में यथार्थ और आदर्श, सरिता के युगल पुलिनों की भाँति जीवन की मर्यादा और गहराई की रक्षा करते हैं। उनका आदर्श-विहग जीवन-तरु में ही अपने पंख पसारता है, आकाश की अनन्त शून्यता में नहीं। कहने का आशय यह कि जोशी के यथार्थ की अनुभूत-तीव्रता आदर्श तक पहुँचने की गति देती है और आदर्श की दृष्टि उस गति को व्यवस्था। वे साहित्य को न तो केवल समाज का दर्पण ही मानते न दीपक ही, शायद वे दोनों मानते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन का स्वाभाविक चित्रण अनुभूति की सच्चाइयों के साथ उनका साथी है। उनके पहिले उपन्यासों में जीवन की विविधता, उसकी विचित्रता, तथा मनोवैज्ञानिक रहस्यमयता कम मिलती है, कल्पना की

कमनीयता का जितना उत्कर्ष मिलता है अनुभूति की आकुलता का उतना उन्मेष नहीं। जोशी ने अपने उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ चरित्रों का ऐसा निर्माण किया है जो सिद्धान्तों, सुधारों और आदर्शों की मूर्तियाँ नहीं हैं, उनमें जीवन की सफलता-विफलतामयी सजीवता है। उनका यथार्थ, आदर्श से संजीवन पाता है संरक्षण नहीं। साहित्य की सब से बड़ी सफलता यथार्थ की यही आदर्शात्मक अभिव्यक्ति है। जोशी की कला का विषय मौलिक मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं—ईर्ष्या, भय, क्रोध, उदारता, प्रेम, घृणा, हर्ष, विषाद तथा राग-विराग एवं अहंकार-अभिमान आदि। शेक्सपियर के चरित्रों की भाँति जोशी के चरित्र जीवन की क्षणभंगुरता और उसके व्यापक विनाश-लीला के अधिनायक हैं, इसी से सहज स्वाभाविक भी हैं। ठीक भी है, दुखों का सत्य सुखों के सत्य के ही समान है, प्रकाश और अन्धकार दोनों जीवन में अपना अपना अस्तित्व रखते हैं। जीवन की इन विरोधात्मक परिस्थितियों और वास्तविकताओं को स्वीकार कर लेने के बाद जोशी को स्वभावतः मनुष्य की मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों की ठोस सतह को टटोलना पड़ा है, आधुनिक जीवन को देखने और समझने के लिये एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करना पड़ा है और यही उनका प्रयास, हिन्दी को पुरस्कार है। जोशी का उपन्यास-साहित्य आदर्श-यथार्थ, किसान-जमींदार तथा समाज और संसार के बीच का विवाद नहीं, वह तो जीवन की स्वाभाविक गति का निर्विवाद पथ है। उसमें चलकर मानव मात्र अपना लक्ष्य खोज सकता है क्योंकि जोशी अपनी साहित्यिक प्रेरणाओं में परम्परागत किसी परिवार (वर्ग-विशेष) ही के आश्रित प्राणी नहीं, वे विश्व-व्यापी मानव-परिवार के सुरुचि सम्पन्न सदस्य हैं।

आज का अहं पीड़ित मानव अपनी अन्तस्तल में छिपी हुई जिन विनाशकारी प्रवृत्तियों के कारण जीवन की आधुनिक दुरावस्था में पहुँचा है उन्हीं के संयोजन और सन्तुलन का स्वर जोशी ने साहित्य में ऊँचा किया है,

आधुनिक

इसे हिन्दी वालों ने स्वीकार भी किया है। अज्ञेय का 'सन्यासी' पर लेख इस बात का साक्षी है। सभ्यता की शान में चढ़े हुये प्रमाद और भ्रान्ति को जोशी ने दूर करने का मनोवैज्ञानिक उपचार दिया है। जीवन की सारी कुरूपता दिखला कर वे उससे बचने की सोध में संलग्न होते हैं। कहा भी गया है कि कलाकार के कंठ में हलाहल विष भी विश्व के लिये कल्याणकर हो जाता है, जनसाधारण का अभिशाप कलाकार अपने ऊपर वरदान बना लेने की क्षमता रखता है। जोशी के उपन्यास जीवन का वह वातायन हैं जिससे मनुष्य सतत् प्रवाहित जीवन के या मस्तिष्क में बहती हुई चेतना के प्रवाह को सहज और स्वाभाविक रूप से देख सकता है। 'पर्दे की रानी' उनका नवीनतम उपन्यास है। जोशी की उपर्युक्त विशेषताओं का हम इसी में अध्ययन करेंगे। इस उपन्यास में कथाकार ने अपने पात्रों का जिस निर्ममता और तटस्तता से आत्म विश्लेषण किया है उसे एक छोटे कथानक में बाँध लेना सहज नहीं किन्तु नीचे दिये हुये कथानक-तत्व से उसकी गहनता का आभास अवश्य हो सकेगा। दो लड़कियाँ निरञ्जना और शीला अपनी अपनी आत्म-कहानी कहती हैं। निरञ्जना नायिका तथा शीला उसके यूनीवरसिटी जीवन की साथिन है। निरञ्जना वेश्या माँ और हत्यारे बाप की लड़की है, शीला समाज के मध्यम वर्ग की कन्या। निरञ्जना का बाप उसकी माँ श्यामा को वेश्यालय से ले आया था। निरञ्जना के जन्म के बाद उसके पिता को बारह वर्ष की कालेपानी की सजा मिल जाती है, लेकिन श्यामा ने उसे बाप के मर जाने की सूचना दे रखी है। वह अपनी माँ के साथ सुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हुये प्रायः सोलह साल की हो जाती है। तभी एक रात को वह अपनी माँ की हत्या का भीषण दृश्य देखती है और तब से उसका जीवन एक दम बदल कर अति अधिक सजग हो जाता है। इस घटना के पहिले उसने कभी स्वप्न में भी अपने घर की और अपनी वास्तविक

स्थिति जानने की कोशिश भी न की थी। एक राजकुमारी की भाँति सुख के अस्थायी सपनों में पलती बढ़ती रही। माँ के जीवन और वैभव का भी उसे कुछ पता नहीं था। माँ की मृत्यु के बाद अपने गार्जियन मनमोहन के पास अपना पुराना आलीशान मकान छोड़कर एक बँगले में रहने लगती है। खिन्नमना, उदास और एकाकिनी। कालेज में उसका परिचय मनमोहन की दो लड़कियों से होता है जो उसके यहाँ चाय पीने आने से अप्रत्यक्ष इंकार कर जाती हैं। लेकिन एक दिन उनका भाई इन्द्रमोहन जो अभी विलायत से लौटा है उसके बँगले में आकर बड़ी बेतकल्लुफी से पेश आता और बातें करता है। निरञ्जना भी उसके प्रथम दर्शन से ही उसकी ओर बड़ी तीव्रता से आकर्षित होती है किन्तु शीघ्र ही इन्द्रमोहन की तूफानी बातों से सजग होकर उससे सतर्क भी रहना चाहती है, आत्म-सुप्ति के बाद आत्म-जागरण का आधिक्य। निरञ्जना अपने संस्कारों के अनुकूल इन्द्रमोहन की ढिठाई को खूब प्रोत्साहित करती है, साथ ही कटाक्षपात भी। उससे खुलकर खेलना चाहती है। एक दिन दोनों साथ ही नुमायश में जाते हैं। लौटते समय इन्द्रमोहन उसे खाना खाने का बहाना बताकर एक बड़े होटल में ले जाता है। वहाँ वह खूब शराब पीता है और निरञ्जना से वासना-तृप्ति का प्रस्ताव करता है, यहाँ तक कि निरञ्जना के अस्वीकार करने पर नशे की हालत में बल प्रयोग भी करता है और अन्त में जेब से पिस्तौल निकाल कर अपनी विफलता की ग्लानि से आत्म-हत्या करने की धमकी देता है। उस परिस्थित से निरञ्जना उसे नशे में बेहोश छोड़कर भाग निकलती है। संयोग से रास्ते में उसके घरेलू अध्यापक चन्द्रशेखर मिल जाते हैं जो उसे उसके बँगले में पहुँचा देते हैं। निरञ्जना किसी ज्ञात-अज्ञात भय से अपने गुरू को बड़े आग्रह के साथ अपने यहाँ रात को रोक लेती है। कुछ अधिक रात जाने पर इन्द्रमोहन आ पहुँचता है। उसकी विफलता गुरू को देखकर क्रोध

में बदल जाती है और वह गुरू पर पिस्टल चलाता है किन्तु नशे की लड़खड़ाहट में गोली छूट कर गुरू के हाथ में लगती है। निरञ्जना व्याकुल भाव से गुरू की सेवा करने लगती है तब इन्द्रमोहन स्वयं पट्टी बाँध कर उसे शराब से तर करके माँफी माँगता हुआ लज्जित होकर अपने घर वापस चला जाता है। अब वह प्रत्यक्ष रूप से निरञ्जना का पीछा छोड़ देता है और उसे पाने की एकान्त साधना में जुट जाता है।

मनमोहन निरञ्जना के पास बराबर आता रहता है, उसका भी उद्देश्य, निरञ्जना को अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाने का है। निरञ्जना एक दिन बुरी तरह से बिगड़कर मनमोहन को बहुत डाँटती है और बाप बेटे की काली करतूतों पर बहुत क्षोभ प्रकट करती है। मनमोहन का भी दिमाग उस फटकार से ठीक हो जाता है, यथा कोड़े से गँवार घोड़ा। अपनी पराजय की प्रतिक्रिया स्वरूप वह निरञ्जना के पिछले जीवन का और उसके माँ बाप की कहानी का सारा रहस्य खोल देता है। निरञ्जना को इस समाचार से एक बड़ा आघात पहुँचता है और उसके अहंभाव को एक ऐसी पीड़ा पहुँचती है कि वह मानव विद्रोही हो उठती है क्योंकि वह अपनी सामाजिक हीनता की ग्लानि को एक क्षण भर को नहीं भुला पाती। इन सब द्वन्द्वों को भुलाने की इच्छा से वह बँगला छोड़कर युनीवरसिटी हास्टल में भरती होकर पढ़ने लगती है। यहीं शीला से उसका परिचय होता है और घनिष्ठता बढ़ने लगती है। शीला स्वभाव से बड़ी स्नेहशील और भावुक, प्राणी है। निरञ्जना को वह इतना चाहने लगती है कि उसे स्वयं आश्चर्य होता है। दोनों की मित्रता में समता की सारी बातों के साथ जीवन के अनुभवों की बड़ी विषमता भी है। निरञ्जना का जीवन-अनुभव, शीला के लिये एक पहेली मात्र है। आपस की बातचीत में निरञ्जना अपने विवाह सम्बन्धी विचारों को बताकर शीला से विवाह करने को मना

करती है और कहती है कि पति-पत्नी की हत्या भी कर सकता है। पढ़ाई खतम करके दोनों अपने घर चली जाती हैं। कई वर्ष बाद मंसूरी में निरञ्जना की शीला से अचानक भेंट हो जाती है, दूर पर इन्द्रमोहन, शीला का पति भी खड़ा है। निरञ्जना ने उसे और उसने निरञ्जना को दबी आँखों देख लिया है। शीला उत्सुकता पूर्वक इन्द्रमोहन का परिचय कराना चाहती है। निरञ्जना पहिले तो इंकार कर देती है पर अन्त में अनमने मन से मिलती है। शीला को यह भी पता चल जाता है कि वे दोनों पहिले से परिचित हैं। दोनों सखियाँ एक दूसरे के यहाँ आना जाना शुरू करती हैं। निरञ्जना अक्सर इन्द्रमोहन का बात-बात में विरोध करती और उसे बेवकूफ बनाती है और शीला के प्रति बड़ा स्नेह जताती है किन्तु भारतीय नारी के अनुरूप शीला इसे पसन्द नहीं करती। निरञ्जना शीघ्र इसको ताड़ जाती है और अपना रूप बदल कर इन्द्रमोहन से बड़ी सरसता और स्नेह से बातें करने लगती है। इन्द्रमोहन को यही चाहिये था, वह कभी कभी निरञ्जना के यहाँ अकेले भी पहुँच जाता है। नाच-रंग में भी दोनों जाते हैं, नाचते और खेलते कूदते हैं। शीला सन्देह की शूल से स्वयं उनका साथ नहीं देती, वह बीमार भी रहती है। निरञ्जना का प्रथम आकर्षण पुनः जागरित हो जाता है, राख में ढँकी आग की तरह। इन्द्रमोहन इस बार उसे बड़ी युक्ति से पनपने देता है। एक दिन समय पाकर इन्द्रमोहन अपनी सारी व्यथा को, निरञ्जना के पाने की लालसा को, उसके सामने खोलकर रख देता है। निरञ्जना का मन भी बाँसों उछलने लगता है पर शीला की ममता उसके बीच में आकर खड़ी हो जाती है। वह इन्द्रमोहन से बड़ी शालीनता और सावधानी से कहती है कि शीला के जीते जी उसका प्यार इन्द्रमोहन को नहीं मिल सकता। इन्द्रमोहन इस बात को नोट कर लेता है और शीला की हत्या कर डालता है। उसके मरने के बाद निरञ्जना को बड़े दुख और करुणा के साथ शीला

आधुनिक

की हत्या का नहीं स्वाभाविक रुग्णता की मृत्यु का समाचार देता है। साथ ही यह भी कहता है कि वह स्वयं एक मामले में फंसा है जिससे जीवन बचाने के लिये उसे नैपाल जाना जरूरी है। उसके जीवन की इस दयनीय दशा में निरञ्जना उसके प्रति अधिक सहृदय हो जाती है। करुणा के प्रवाह में आत्म-समर्पण कर बैठती है और अपना सर्वस्व छोड़कर उसके साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती है। ट्रेन में दोनों का प्रथम और अन्तिम प्रणय-मिलन होता है। जीवन-व्यापी वासना की तृप्ति के बाद इन्द्रमोहन शीला की हत्या का समाचार देता है। इसे जानकर निरञ्जना बहुत दुखी और क्रोधित होती है, इन्द्रमोहन को गाली सुनाती है। इन्द्रमोहन निरञ्जना के क्रोध को नहीं संभाल पाता और अपने को सच्चा प्रेमी साबित करने की धुन में गाड़ी से कूद पड़ता है। इस प्रकार आत्म हत्या में नायक का अन्त होता है। नायिका अब और अधिक उदास, खिन्न और त्रस्त होती है। लौट कर अपने गुरू को सारा किस्सा सुनाती है। गुरू एक गम्भीर तथा भावुकता भरा भाषण देकर इन्द्रमोहन की सजीव स्मृति गर्भ की रक्षा का व्रत निरञ्जना से स्वीकार कराता है। निरञ्जना भी उस स्थिति में उसी में अपना कल्याण पाती है। यहीं पहुँच कर उसके जीवन के दुख द्वन्दों की परिणति मातृत्व की शान्त और ममतामयी भावना में होती है। यही कथानक का ढाँचा है।

छायावाद में अनन्त की भाँति आज उपन्यास-क्षेत्र में मनोविज्ञान शब्द का बहुत प्रचलन है किन्तु वास्तव में मनोविज्ञान अपने सच्चे अर्थों में जोशी के उपन्यासों में आया है। 'पर्दे की रानी' के पात्र और उसकी घटनायें सभी किसी न किसी मनोवैज्ञानिक सत्य की आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। उपन्यास का स्वरूप आत्मकथानक ढँग का है। इस प्रकार के उपन्यास में लेखक को अपनी तरफ से कुछ कहने की गुँजायश नहीं रहती, पात्रों के आत्म-विश्लेषण से ही सारा रहस्योद्घाटन होता

चलता है, यह एक प्रकार का नाटकीय ढँग है। ऐसे चरित्र-चित्रण और चरित्र-निर्माण में बड़ी सावधानी की आवश्यकता रहती है क्योंकि पात्रों की स्वाभाविक परिस्थितियाँ और उनके मन की मौलिक वृत्तियों के सामञ्जस्य से ही उनका विकास होता है और इस विकास की परिणति के लिये कथाकार को प्रत्येक पात्र से पूर्ण तादात्म करना पड़ता है, जो सबके लिये सहज सम्भव नहीं। इस शैली के उपन्यासकार बहुधा इतिहासकार या शुद्ध निबंधकार बनकर ही रह जाते हैं। जोशी ने बड़ी कुशलता से इस शैली का निर्वाह किया है। चरित्र-सम्बन्धी विशेषताओं को स्थायित्व प्रदान करने के लिये उनकी आत्म-विश्लेषणात्मक शैली की उपयोगिता सर्वमान्य है। सब से बढ़कर इस उपन्यास की विशेषता यह है कि कथाकार दो लड़कियों का आत्म-विश्लेषण कराता है पर वह कहीं भी नारी मनोविज्ञान के बाहर नहीं गया। लेखक की प्रतिभा और उसके जीवन-दर्शन की यह बहुत बड़ी विशेषता है। निरञ्जना वेश्या माँ तथा हत्यारे बाप की लड़की है किन्तु इस बात को वह करीब सोलह वर्ष की होकर जानती है। इस कारण ऐश्वर्य की सुखद-गोद में व्यतीत हुये बाल-जीवन की स्मृतियाँ उसके मन में विशैली कीलों की तरह चुभती सी जान पड़ती हैं। उसे आश्चर्य होता है कि वह माँ के जीवन-काल में ऐसी गहन मोहाच्छन्नता में कैसे डूबी रही। इस बात से उसे ग्लानि के साथ-साथ माँ के प्रति क्रोध की भावना भी क्षुब्ध करती है। लड़की का माँ के प्रति ईर्ष्यालु होना मनोवैज्ञानिक सत्य है फिर निरञ्जना को तो एक प्रत्यक्ष पार्थिव कारण भी मिल जाता है। उसकी शिक्षा-सम्बन्धी सुविधा के रूप में वह माँ की ममता से भी परिचित है। माँ के सामने वह डा० ओमप्रकाश से बहुत हिलीमिली थी किन्तु माँ मरते समय उसे एक दूसरे ही व्यक्ति को सौंप जाती है, यह भी उसके लिये रहस्यमय पहेली है। इन सब ग्लानियों और खिन्नताओं का द्वन्द्व उसे विकल-विह्वल कर देता है। उसका बाल-काल स्वप्नछाया से घिरा हुआ अवास्तविक जगत् की रंगीन सैर में बीता

आधुनिक

था वह इतनी आत्मलीन थी कि उसने दीन दुनिया की चिन्ता नहीं की। माँ की मृत्यु के बाद उसके भ्रान्त माया स्वप्नों का जाल छिन्न-भिन्न होकर उसे जीवन की कठोर और ठोस सतह पर रख देता है, यहीं से उसके जीवन का नया अध्याय शुरू होता है।

उसके तरुण-हृदय की अनन्त आकांक्षायें ऊपर उठने का ज़ोर भरती हैं उसकी हीनता-भावना उसे नीचे दबाने का प्रयत्न करती है, उसके भीतरी तथा बाहरी दोनों जीवनों में एक विकट संघर्ष आ जाता है। उसकी स्वाभाविक प्रकृति और उसकी परिस्थितियों के बाह्य स्तर से उसके भीतर का व्यक्तित्व लड़ने लगता है। अपने अहंवाद की प्रेरणा से वह अपनी जीवन की अनुभूतियों को जन-साधारण के स्तर में बहुत ऊँचा समझती है साथ ही वेश्या माँ और खूनी पिता की लड़की होने की सामाजिक निम्नता को भी वह नहीं भूल पाती। उसके अहंवाद की दोनों विरोधी प्रवृत्तियाँ उसे प्रतिक्षण परेशान करती हैं। जीवन की इसी स्थिति में अपने गार्जियन मनमोहन के लड़के इन्द्रमोहन से उसका परिचय होता है जिसकी अहं-भूति उससे भी अधिक भयंकर रूप से विकसित है। निरंजना तीव्रगति से उसकी ओर आकर्षित होती है, उसे देखते ही उसके रक्त का प्रत्येक कण न जाने किस अतल में गुप्त संस्कारों के आकस्मिक जागरण के फल स्वरूप एक निराले विद्युत-स्फुरण से तरंगित होने लगता है, वह स्वप्न-विमूर्छित विभ्रान्त दृष्टि से उसे देखती रह जाती है। उसका स्वाभाविक स्नेहशील नारीत्व, इन्द्रमोहन के सम्मोहक पुरुषत्व के प्रति प्रबल वेग से आकर्षित होता है किन्तु उसका अहंभाव उतनी ही तीव्रता से उस आकर्षण के प्रति विद्रोह कर उठता है। सम्भवतः यह उसके एकाकी जीवन और यौवन के तकाजे के साथ इन्द्रमोहन के व्यक्तित्व का महत्व भी है। शीघ्र ही उसके चेतन मन ने, उसकी अन्तःप्रज्ञा ने, उसे इन्द्रमोहन की वास्तविकता का परिचय दे दिया किन्तु उसके हृदय का प्रत्येक अणु-परमाणु इन्द्रमोहन

की आश्चर्यमयी चुम्बक शक्ति के खिंचाव से बरबस आन्दोलित होता रहा।

मानव और चेतना का तुमुल संघर्ष, हृदय और बुद्धि का व्यर्थ विवाद। इस उद्वेलन के फल स्वरूप निरंजना के अन्तर्चेतन मन का संस्कार उसकी रक्षा के लिये जग पड़ा और वह सतर्क हो गई। उसने सोचा कि इन्द्रमोहन की बहिनें उसके यहाँ बुलाने से भी चाय पीने नहीं आईं और उनका भाई बे धड़क चला आया। "इसका कारण क्या स्पष्ट ही यह नहीं है कि वह एक पुरुष की हैसियत से किसी भी नारी के साथ रँगरस की बातें करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है और यह भी जानता है कि जिस लड़की के यहां आने जाने से उसकी बहिनों की सामाजिक सत्ता घट सकती है, उसके यहाँ स्वयं डटकर जलपान करने, चाय पीने और पहली मुलाकात में बेतकल्लुफ प्रेम-चर्चा चलाने से समाज में उसका सम्मान घटने के बजाय बढ़ सकता है"! इस भावना से उसके अपमानित नारी-हृदय का विद्रोह—मान जाग पड़ा और एक रहस्यमय कुटिल और कँटीला पथ पकड़कर प्रतिहिंसा के रूप में बाहर निकलने के लिये अधीर हो उठा।

उसने इन्द्रमोहन से खुलकर खेलने की चाल मन में ठान ली। उसे इन्द्रमोहन को इस रूप में पाकर वही सुख-संतोष का अनुभव हुआ जो किसी शिकारी को प्रथमबार शेर के शिकार में सफलता मिलने पर होता है। वह अपने तन की भूख और मन की तृप्ति के जीवन-व्यापी कठिन संघर्ष में पड़ जाती है। प्रत्येक जीवन में इस द्वन्द्व का समय आता है किन्तु निरंजना का सारा जीवन इसी चेतन-अचेतन के अन्तर्द्वन्द्व से प्रस्फुटित होता है क्योंकि जीवन इतना सप्राण और चेतनायुक्त है कि वह कभी एक निश्चित गतिविधि में बाँधा भी तो नहीं जा सकता, वह तो नाना विरोधों की बौछारों से ही सिंचन पाकर पनपता है। इसी से उपन्यासकार को

आधुनिक

व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों पक्षों को सामने रखना पड़ता है, बाह्य और अन्तर की विरोधात्मक झाँकी देखनी पड़ती है। तभी वह निरंतर गतिशील, अज्ञेय और विविधितामय जीवन का पूर्ण चित्र दे पाता है। कलाकार की रुचि कल्पनामय होती है, वह चर्मचक्षु और मनश्चक्षु दोनों से संसार को देखता है, अध्ययन करता है। केवल तभी, वह अनुभूति के भीतर के सत्य को सब के सामने उपस्थित कर सकता है, अन्यथा नहीं।

निरंजना को जन्म से सुन्दर संस्कार नहीं मिले, वह अहं-प्रेम पूर्ण शिक्षित और बुद्धिमान नारी है। नारी-सुलभ कोमलता और करुणा का भी उसमें अभाव नहीं किन्तु हीनत्व-भावना की गाँठ उसके विचारों में इतनी दृढ़ता से लगी है कि वह उसकी प्रतिक्रिया को नहीं सँभाल पाती। इन्द्रमोहन भी जैसे को तैसा मिला। वह प्रेम को प्रधान मानता है, इसलिये उसकी समझ में भय की भावना में एक विकृत-रस लेना ही श्रेयष्कर है। वह जीवन को केवल जीवन के लिये स्वीकार करता है, मृत्यु के पूर्व रूप में नहीं। वह अहं भाव की पूर्ति के लिये आत्म-विनाश करने में भी नहीं चूकता। इस उपन्यास के ऐसे नायक और ऐसी नायिका को लेकर जोशी आगे बढ़े हैं। साहस, साधना और सफलता के साथ। निरंजना कहती है—"पहले ही दिन की मुलाकात से कोई व्यक्ति इस हद तक की ढिठाई का पता दे सकता है, यह बात वास्तव में मेरी कल्पना और अनुभव के परे थी, साथ ही यह भी सत्य है कि मैंने भी अपने अनजान में उसे अधिक से अधिक ढीठ बनने को प्रोत्साहित किया था। पर क्यों? मेरे अन्तस्तल के किसी अज्ञात कोने में वासना का अंगार धधक रहा था जो स्वयं राख में परिणत होने के पहले दूसरे की आत्मा को भी दग्ध करने के लिये बेचैन हो उठा था"।

दोनों अपनी ऐसी विरोधी धारणाओं को लिये मिलते जुलते रहते हैं, अपनी-अपनी घात में। निरंजना के घरेलू गुरू चन्द्रशेखर

से भी इन्द्रमोहन का साक्षात्कार होता है और इन्द्रमोहन उनका मज़ाक उड़ाता है मगर निरंजना उसे नापसन्द करती है। गुरू के प्रति निरंजना का यह आन्तरिक पक्षपात इन्द्रमोहन को विद्वेष की विभीषिका में छोड़ देता है।

इधर निरंजना को मनमोहन से भी सुलझना पड़ता है क्योंकि वह एक दिन साफ साफ कहता है—"तुम्हारा सौन्दर्य केवल आश्चर्यजनक ही नहीं बल्कि अविश्वसनीय और अप्रत्याशित सा भी लगता है, आश्चर्य है कि अपनी इस विश्वविजयी शक्ति से तुम स्वयं अपरिचित हो या उसके प्रति उदासीन हो, तुम यह नहीं जानती कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति ममता का भाव किस हद तक वर्तमान है"। निरंजना ने शीघ्र मनमोहन की इस सरसता को मरुस्थल में परिणत करने के लिये अपने और इन्द्रमोहन के परिचय का समाचार उसे सुनाया। मनमोहन की हवाइयाँ उड़ने लगीं और उसने इन्द्रमोहन की निन्दा करनी प्रारम्भ की तथा निरञ्जना को उसका साथ न करने के लिये आगाह किया। निरंजना ने अपनी विश्वविजयी शक्ति की परीक्षा के लिये इन्द्रमोहन से और अधिक हेल-मेल बढ़ाने की बात सोची। मनमोहन को पीड़ित करने के लिये इन्द्रमोहन का उपयोग किया और इन्द्रमोहन को परेशान करने के लिये अपनी कुटिल सतर्कता का।

[illegible] ने चाहा कि वह अपने गुरू की परामर्श का लाभ उठाती किन्तु समय रहते वह क्षुधा-तृष्णामय वास्तविक जीवन से दिलचस्पी नहीं ले सकी, उन्हें जीवन की मिट्टी से परे समझ कर केवल उनके उपदेशों के प्रति भक्त बनी रही, यद्यपि गुरू ने अपनी आत्मीयता का सांकेतिक परिचय भी दे दिया था। निरंजना अपनी द्विविधामयी उलझनों में उलझी हुई इन्द्रमोहन का साथ देती रही, नुमायश भी उसके साथ गई। उसी रात को इन्द्रमोहन ने उसके बँगले में आकर गुरू पर गोली चलायी। उसकी विफलता के प्रतिशोध

आधुनिक

स्वरूप, गुरू ने उसे क्षमा करके उस बात को पुलिस तथा संसार से छिपा रखा। इन्द्रमोहन इस बात से बहुत प्रभावित हुआ और प्रत्यक्ष रूप से निरंजना के प्रति विमुख होकर उसे पाने की एकान्त साधना में जुट गया, अनाथ स्कूल में गुरू को सहयोग देने लगा।

निरंजना इन्द्रमोहन की सारी विकृतियों के साथ भी उसे भुला नहीं पाती, अन्तःसलिला की भाँति उसके हृदय में इन्द्रमोहन की ममता तथा आकर्षण का प्रवाह बराबर बहता रहा। उसके शारीरिक-सौन्दर्य के जादू से वह अपने को मुक्त नहीं कर सकी। कभी कभी वह सोचने लगती है—"मेरे भीतर वेश्या के संस्कार पूर्णमात्रा में वर्तमान हैं यदि ऐसा न होता तो मैं इन्द्रमोहन जी को अपनी भाव भंगिमा से उस तरह रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हें इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान न करती और होटल वाली घटना और उसके बाद की दुर्घटना का कारण न बनती"। शायद इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप वह मनमोहन को उसकी लालसा के लिये बुरी तरह से डाँटती फटकारती है और स्वयं गुरू की आज्ञानुसार अपने को सामाजिक महत्ता देने की साधना में लग जाती है, यूनीवरसिटी हास्टल में भरती होकर पढ़ने लगती है।

यहीं शीला उसको उसकी माँ के प्रती[illegible] जो निरंजना को बहुत मानती और प्यार करती है। [illegible] निरंजना को प्रसन्न करने की इच्छा [illegible] अद्वितीय है। दो साल साथ रह कर दोनों अलग हो जाती हैं। शीला की शादी इन्द्रमोहन से हो जाती है। शीला अपनी प्राणप्रिय निरंजना के व्यक्तित्व का आश्चर्यजनक साम्य इन्द्रमोहन से पाकर बहुत सुखी होती है और एक भारतीय पौराणिक नारी की भाँति उसके साथ अपना सुखमय जीवन व्यतीत करने लगती है।

प्रायः पाँच वर्ष बाद दोनों साथिनें मंसूरी में अचानक मिल जाती हैं, साथ में इन्द्रमोहन को देख कर निरंजना को एक भय और विस्मय-विषाद

मिश्रित भावना घर दबाती है, पर वह शीघ्र शान्त हो जाती है। तीनों मिलते हैं। निरंजना की आत्मा की एक अज्ञात और रहस्यमय मूलगत ममता इन्द्रमोहन के प्रति फिर जाग पड़ती है, इन्द्रमोहन के परिवर्तित स्वभाव की शालीनता उसे और भी तीव्रता दे देती है, इसमें सन्देह नहीं। इन्द्रमोहन बड़ी सावधानी से इसबार निरंजना के मन पर अधिकार जमाना चाहता है। दोनों प्रायः मिलते जुलते रहते हैं। शीला इसको ताड़ जाती है, दोनों के पूर्व परिचय के रहस्य, सन्देह और विद्वेष की आग से उसका मन जलने लगता है। वह दिन प्रति दिन उन्मन, उदास और रुग्ण होती है, जैसे अपनी इच्छानुसार निरंजना के सुख के लिये धीरे धीरे अपना सर्वस्व छोड़ने की तैयारी कर रही हो।

निरंजना और इन्द्रमोहन नाच रंग तथा केलि-क्रीड़ा में अपना समय व्यतीत करते हैं। निरंजना को पता नहीं कि अब का इन्द्रमोहन तब के इन्द्रमोहन से भी भयंकर है, अब उसकी लालसा सहृदयता के आधार पर खड़ी है बर्बरता की कठोर भूमि पर नहीं, जो किसी को भ्रम में डाल सकती है। निरंजना उसके निकट मानसिक और शारीरिक संस्पर्श की उस सीमा में प्रवेश कर जाती है जो उसकी मर्मघाती वेदना और चेतनातीत आनन्द के बन्द कपाटों को खोल देती है। इसी समय इन्द्रमोहन उसकी तरफ व्याकुलता भरी करुण-दृष्टि से देखता हुआ अपनी चरम सफलता का प्रस्ताव करता है, प्रार्थना करता है, बल प्रयोग और उच्छृंखलता नहीं दिखाता।

निरंजना उसके प्रस्ताव को शीला के प्रति अन्याय कह कर टाल जाती है किन्तु इन्द्रमोहन कहता है—निरंजना भगवान के लिये ऐसा अंधेर न करो, इतनी दूर मुझे खींचकर मझधार में न छोड़ो, थोथी भावुकता के फेर में पड़कर मेरा सर्वनाश न करो, इस समय तुम शीला को कहाँ से घसीट लाई? निरंजना अज्ञात तथा रहस्यमय प्रेरणा के जोश में कह गई—"शीला के प्रति मेरे हृदय में बराबर एक सच्चा सम्मान

आधुनिक

और सहृदय आत्मीयता का भाव वर्तमान रहा है, मैं सोच कर स्वयं आश्चर्य में हूँ कि अपनी किस भयंकर मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मैं इतने दिनों तक सब कुछ समझते हुये भी शीला को इस हद तक मार्मिक चोट पहुँचाने में समर्थ हुई। शीला अत्यन्त अनुभूतिशीला और समझदार है, वह ओछी नहीं है इसलिये कभी अपने मन की वास्तविक वेदना को प्रकट नहीं होने देगी पर उसकी प्रकृति की उस सुरुचि और संयम का इस तरह अनुचित लाभ उठाना वास्तव में हम दोनों की निपट हीनता का परिचायक है। मैं वास्तव में उसकी परम शत्रु हूँ, फिर भी मैं उस शत्रुता को चरम सीमा तक नहीं पहुँचाना चाहती। विश्वास मानिये इस समय मुझमें आपसे कुछ कम उन्माद नहीं समाया हुआ है पर मेरे प्रतिरोध का केवल कारण शीला है। जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझसे हर्गिज ऐसी आशा न करें''। अपनी इस बात की मूल में छिपे अवचेतन मन के अत्यन्त गहन और भयंकर उद्देश्य को उस समय निरंजना नहीं समझी, मगर इन्द्रमोहन उसे ताड़ गया। कुछ दिनों बाद शीला के साथ मसूरी से वापस चला गया। निरंजना भी वापस आ गई।

अचानक एक दिन इन्द्रमोहन बड़ी दाढ़ी रखे, फटी पुरानी गंदी पोशाक पहिने और उदास-भाव में डूबा निरंजना के पास पहुँचा और शीला की हार्ट फेल हो जाने से मृत्यु का समाचार दिया। शीला की मृत्यु के सम्बाद से निरंजना को बहुत भारी सदमा पहुँचा पर इन्द्रमोहन की मर्मघाती विह्वलता देख कर वह अपना शोक भूल गई। उसके मन में इन्द्रमोहन के प्रति एक वास्तविक सम्मान और संभ्रम का भाव उत्पन्न होने लगा। यह सोचकर कि शीला की मृत्यु ने यथार्थ में उसे मर्मघात पहुँचाया है, वह उसके प्रति श्रद्धा से गद्‌गद होने लगी और जब इन्द्रमोहन ने यह भी बताया कि यदि वह शीघ्र भारत की सीमा पार करके नैपाल न पहुँच गया तो एक षड्यन्त्र के मामले के सिलसिले में उसकी जान बचना मुश्किल है तब तो निरंजना और भी सदय हो उठी।

इन्द्रमोहन ने यह भी कहा कि वह नेपाल केवल तभी जा सकता है जब स्वयं निरंजना उसके साथ जाए। निरंजना के अन्तर्वासी का जो कंठ इतने दिनों तक एक दम अवरुद्ध था वह सहसा खुल गया और उसने तत्काल कहा—"आप मुझे जहाँ चलने को कहेंगे मैं चलूँगी, इन्द्रमोहन जी मृत्यु पर्यन्त आपका साथ न छोड़ूँगी"। संयोग से शीला की मृत्यु की भाँति इन्द्रमोहन की मृत्यु की भी अज्ञात सूचना उसके कथन में एक मूल-छाया की तरह छिपी थी। भावावेश का यह करुण समर्पण निरंजना के नारीत्व का ही गौरवमय पक्ष था। इतने दिनों से उसके अन्तस्तल के काले गह्वर में दबी हुई प्रेम-वेदना इन्द्रमोहन के इस चरम संकट के क्षण में करुणा के सहारे मुक्त होकर प्रवाहित हो उठी। ठीक भी है, मनुष्य केवल विचारों और बुद्धि के सहारे अपना जीवन चला भी तो नहीं सकता, प्रायः उसकी रागात्मक वृत्तियाँ ही पथ निर्देशिका बनती हैं।

निरंजना अपनी सारी बौद्धिकता के साथ भी अपनी आवेगमयी रागात्मक प्रवृत्तियों में ही सञ्चालित होती है, यही उसके नारीत्व की विशेषता भी है, जो उसके जीवन को गति देती है। नेपाल यात्रा की ट्रेन में उनका प्रथम और अन्तिम प्रणय-मिलन हुआ और वहीं इन्द्रमोहन के जीवन का अन्तिम अध्याय भी लगा। निरंजना चीख मारकर मूर्छित होकर गिर पड़ी, किन्तु अब क्या होता है?

घर वापस आकर उसने गुरू से सारा किस्सा बताया और गुरू ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—"भाग्य के रहस्यमय नियमों की मुझे कोई जानकारी नहीं है फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि जिन दुर्घटनाओं का तुमने उल्लेख किया है उनके मूल में है, वर्तमान अर्थवादी युग की कटु मनोवृत्ति। आधुनिक बुद्धिवादी युग में मनुष्य ने अपने अहंभाव का विकास आवश्यकता से इतना अधिक कर लिया है कि उसके फल स्वरूप पौराणिक भस्मासुर की तरह

आधुनिक

विनाश के पथ की ओर बढ़ता चला जाता है। मैं तुमको और इन्द्रमोहन को इस युग की व्यग्रता के चरम निदर्शन मानता हूँ किन्तु तुम्हारी प्रकृति के बाह्य स्तरों के नीचे तुम्हारा जो वास्तविक व्यक्तित्व दबा पड़ा है उसके प्रति मेरे मन में प्रारम्भ से ही एक सम्मान का भाव रहा है। मालूम होता है कि नाना संघर्षों और दुर्घटनाओं के पीड़न से तुम्हारा वह मूल व्यक्तित्व उभरने लगा है। माता बनने की सम्भावना को तुम चरम दुर्गति समझे बैठी हो, वही तुम्हारे जीवन का सबसे बड़ा दिन सिद्ध हो सकता है। उस प्रथम और अन्तिम प्रेम मिलन के फल स्वरूप मातृत्व की जो स्थिति तुमने पाई है उसे ग्लानि का कारण न समझकर गौरव के रूप में ग्रहण करना तुम्हारा कर्तव्य है। ज्वलन्त प्रेम के जीवित स्मृति चिन्ह के रूप में जो धन तुम्हें सौंपा गया है उसे अस्वीकार न करके तुमने वास्तव में अपने नारीत्व को महिमान्वित किया है; अब से स्नेह, प्रेम और कल्याण की भावनायें तुम्हारे जीवन के चारों ओर मंगल वितान तानना प्रारम्भ कर देंगी"।

निरंजना, मंगल-मूर्ति, देवदूत गुरु की बात मानकर अपने को मातृ-पथ पर अग्रसर करना स्वीकार कर लेती है, ऐसी स्थिति में उसके लिये कोई दूसरा साधन भी नहीं था। यही उपन्यास की समाप्ति है। गुरु के निर्देश से संयत जीवन, सुख के बदले [illegible] लगता है। गल्पकारों तथा उपन्यासों में नायक-नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिकाओं का भी स्थान होता है किन्तु कभी कभी कथानकों में इन सब के अलावा नायक या नायिका के साथ एक मंगल मूर्ति पात्र और होता है, जैसे निरंजना का गुरु। ह्यूगो के 'ला मिजरेबिल्स' में 'बिशप आफ [illegible]' रवीन्द्र के 'घरे बाहिरे' में नायक का अध्यापक इसी तथ्य के समर्थक हैं। उनका कथानक से कोई सीधा सम्बन्ध न होने पर भी उनके व्यक्तित्व की मंगलमयी

आभा पूरे कथानक को अपनी स्निग्ध-स्वच्छ छाया से आच्छादित किये रहती है ।

जोशी की नायिका कारुण्य में कालिदास की शकुंतला से होड़ लेती है, शकुन्तला तप के तेज से प्रोज्ज्वलित है और निरंजना तपन तपस्या से निर्मल । शकुन्तला अन्त में पत्नी और माँ दोनों होती है किन्तु निरंजना केवल माँ, शायद इसीलिये वह अधिक करुण-कोमल है । कालिदास का नायक दुष्यन्त अपनी विस्मृति के अभिशाप से मुक्त होकर जीवन में सुखी होता है पर इन्द्रमोहन अपनी विभ्रान्ति का त्यागमय चरम विकास । उसके बाहर और भीतर एक सा होने के कारण वह लोगों की घृणा की अपेक्षा दया का ही अधिकारी है ।

जीवन के गहरे और गुरुतर सत्य की आधार करुणा, निरंजना में और आवेशमयी आत्मत्याग की भावना इन्द्रमोहन में अपनी साकारता पा लेती है । इस प्रकार जोशी ने मानव मन के जिन गूढ़ और अज्ञात मनोवैज्ञानिक स्तरों को जनता के सामने रखकर अपने भावों के स्वाभाविक विकास-विनाश का स्वरूप दिखलाया है वह आधुनिक जीवन के समझने का सुन्दरतम साधन है, इसमें सन्देह नहीं । इनके सभी पात्र आत्मनिर्माण को पूर्ण प्रगति देते हैं, वह जीवन के कटु तथा कुरूप यथार्थ में चलते हैं उससे सहयोग करने के लिये नहीं, विद्रोह करने के लिये, उसमें संतुलन का स्वर भरने के लिये ।

नर-नारी के ज्ञात-अज्ञात, नीरव-सरव वेदनाओं की यह वास्तविक विकलता विफलता और मानवीय गहन प्रवृत्तियों की यह साहित्यिक प्रतिष्ठापना हिन्दी के लिये अभिनन्दनीय है । कला की यह विश्वासात्मिका पात्रों के द्वारा सम्पूर्ण मानवता का स्वर ऊँचा करती है और पाठकों को जीवन की सच्चाई की ओर प्रेरित करती है । अरस्तू ने कहा है—"कलाकार जीवन की विभीषिका और करुणा के यथार्थ मार्मिक प्रस्फुटन से मनुष्य की आत्मा का संस्कार और परिमार्जन करता

आधुनिक

है"। जोशी को भी कला का यही सत्य मान्य है, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

'पर्दे की रानी' में सहज प्राकृतिक संविधान, कहानी को अधिक मार्मिकता तथा पात्रों को अधिक सजीवता और स्पष्टता देने के अलावा जीवन और जगत् की द्वन्द्वात्मक विशालता का सहज ही परिचय दे जाते हैं, वातावरण का सफल और मनोरम चित्रण अपनी एक अलग विशेषता रखता है। पहिले कहा जा चुका है कि आधुनिक उपन्यास-साहित्य की रुचि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक है। कहानी की मनोरंजकता, घटनाओं की योजना आदि पर उतना ध्यान न देकर आज के कलाकारों की दृष्टि चरित्र-अध्ययन पर ही अधिक सजग रहती है किन्तु जोशी ने आदिमकाल के आदर्श, मध्यकाल के रोमान्स और आधुनिक काल के वैज्ञानिक यथार्थ का जो सामंजस्य उपस्थित किया है, वह पाठकों की हार्दिक सहानुभूति और आत्मीयता के अधिक समीप पड़ता है और यही कलाकार की चरम-सफलता है।

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि इस उपन्यास की नायिका निरंजना ही कथाकार की मानस-प्रतिमा है, उसी को कलाकार की सहृदयता का सुख मिलता है। सागर जैसा, ऐसा गम्भीर कारुण्य अन्यत्र कहाँ मिलता है? संकुचित दृष्टि वाले यथार्थवादियों की भाँति जोशी ने इस वेश्या पुत्री की नग्न अवतारणा नहीं की, परिस्थितियों की विवशता से पराजित विकलता को एक करुणार्द्र समवेदना दी है। वेश्याओं में भी हृदय होता है, आत्मसम्मान होता है और सबसे बढ़ कर होता है मानापमान का भाव, इसका अनुभव कितने व्यक्ति करते हैं? समाज तथा संसार ने उन्हें अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाने के अतिरिक्त उनके लिये और किया ही क्या है? जोशी ने इस स्तर के प्राणी को अपने कथानक के माध्यम से जो ममता दी है, वह स्तुत्य है।

इस उपन्यास में वही प्रकाश-पुंज है, उसके मातृत्व की गरिमा में उसकी सारी विकृतियाँ इस प्रकार समाहित हो जाती हैं जिस प्रकार विश्व का कोलाहल आकाश की पलकों में। 'पर्दे की रानी' के जीवन के इस दृष्टिकोण के साथ हम उसकी विवेचना समाप्त करेंगे—"जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिये अपनी मानसिकता को हमें जन-साधारण की उस स्वस्थ, सबल, सहज और स्वाभाविक बुद्धि के स्तर पर लाना होगा जिसका विकास किसी प्रकार की कृत्रिम शिक्षा और संस्कृति द्वारा नहीं, बल्कि जीवन के मूल उपादानों द्वारा हुआ है"। जोशी जी का नया उपन्यास 'प्रेत और छाया' छप रहा है। जीवन के वास्तविक केन्द्र में खड़े होकर उसकी बाह्य और आन्तरिक प्रवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक प्रकाशन में वह अद्वितीय है।

वृन्दावन लाल वर्मा

वृन्दावन लाल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। व्यक्तिगत जीवन की सीमित परिधि से मुक्त होने के लिये मनुष्य के पास दो प्रधान साधन हैं—पहला, आगत भविष्य में सामूहिक सुख की स्वस्थ कल्पना और दूसरा अतीत के आकर्षणमय जीवन की उद्भावना। दूरस्थ अतीत जीवन की मनोरम झाँकी देकर अपनी कल्पना से उसे कथानक के रूप में उपस्थित कर देना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार का सबसे बड़ा कार्य है। ऐसे उपन्यासों में भावन की अपेक्षा तथ्य का प्राधान्य रहता है क्योंकि इतिहास की बात को प्रमाणित करना पड़ता है और भाव की

बातको सञ्चारित। भाव, प्रकाशन अथवा उद्वेलन के लिये बहुत प्रकार के आभास-इङ्गितों की आवश्यकता पड़ती है किन्तु इतिहास की बात को केवल प्रमाणों के साथ समझाकर कह देने से काम चल जाता है। भाव मनुष्य मात्र का होता है, उसमें व्यक्ति, जाति अथवा समय की सीमा का उतना प्रतिबन्ध नहीं रहता जितना इतिहास में रहता है। यही कारण है कि भावों के द्वारा हम नित्य सत्य को और इतिहासों के द्वारा केवल युग-सत्य को चीन्हते पहचानते हैं। इतिहास की सीमा व्यतिक्रम करने का अपराध ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों के आदि और आदर्श स्काट पर भी लगाया जाता है क्योंकि इतिहास के विशेष सत्य और साहित्य के शाश्वत सत्य की सम्मिलित रक्षा कर सकना सहज नहीं होता। प्रसन्नता की बात है कि वर्मा जी ने इस कार्य में बहुत कुछ सफलता पाई है।

कथानक के द्वारा ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा और कल्पना के द्वारा कहानी की रमणीयता तथा रोचकता बनाये रखने

में ये बहुत ही निपुण हैं। "हाँ यदि कोई व्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की उस विशेष गन्ध और स्वाद से ही एक मात्र सन्तुष्ट न हो और उसमें अखन्ड इतिहास को निकालने लगे तो वह शाक के बीच में साबित जीरे, धनिये, हल्दी और सरसों ढूँढेगा। मसाले को साबित रखकर जो व्यक्ति शाक को स्वादिष्ट बना सकते हैं, वे बनायें और जो उसे पीसकर एकसम कर देते हैं, उनके साथ भी हमारा कुछ झगड़ा नहीं, क्योंकि यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला तो उपलक्ष्य मात्र है"। लेखक चाहे इतिहास को अखन्ड रखकर उपन्यास रचना करे या उसे काट-छाँट कर, यदि वह 'इतिहासिक रस' की अवतारणा कर सके, तो वह अपने उद्देश्य में सफल है। वर्मा जी की सफलता भी ऐसी ही है क्योंकि पाठक को उनके उपन्यासों में इतिहास का सत्य और साहित्य का आनन्द दोनों प्राप्त होते हैं।

'सुधि बने संसार के होते सभी मधुमय मदिर राग' की युक्ति के अनुसार अतीत को प्यार करना, उसका स्मरण करना, मानव स्वभाव की बात है। दूर अतीत की विस्मृति में विलीन घटनाओं का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यास की मूल चेतना है किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार का क्षेत्र केवल बीते हुये सत्य की वैज्ञानिक खोज की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक होता है। इतिहासकार घटित सत्य की कठोरता से जकड़ा रहता है, किन्तु उपन्यासकार अतीत के धुँधले और अस्पष्ट चित्रों को अपनी भावुकता और कल्पना के समुचित प्रयोग से स्पष्ट और शृंखलित करता चलता है।

हमारे देश के अनेक युग ऐसे हैं जिनके विषय में इतिहास का अनुसन्धान बहुत कम है क्योंकि अनेक छोटी किन्तु मार्मिक घटनाओं को इतिहास तुच्छ और साधारण समझ कर छोड़ देता है। उपन्यासकार उन्हीं को जीवन देने में समर्थ होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की महत्ता तथा सफलता का यही रहस्य है। हिन्दी के लेखक इस ओर से

आधुनिक

कुछ उदासीन से रहे हैं। बीते दिनों को प्यार से अपनाने वाले प्रसाद भी इस विषय में मौन ही रहे। प्रेमचन्द ने वर्तमान परिस्थितियों के विश्लेषण में ही अपने उपन्यासों की सार्थकता समझी। निराला ने इस ओर का प्रयास अपने 'प्रभावती' उपन्यास में करने की चेष्टा की किन्तु वे भी उसे आगे नहीं बढ़ा सके, इस प्रकार हिन्दी में, यह क्षेत्र बराबर उपेक्षित सा रहा है।

हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करने वाले उपन्यासकारों में वर्मा जी अग्रगण्य हैं। उन्होंने अतीत तथा वर्तमान दोनों को अपनी प्रतिभा का प्यार दिया है। 'गढ़कुँडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' उनकी अतीत-प्रियता के प्रतीक हैं और 'लगन' 'कुंडली चक्र' तथा 'प्रेम की भेंट' उनके वर्तमान-बोध की व्याख्या। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि बंगाल के 'करुणा' और 'शशांक' की भाँति हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास अब भी नहीं हैं। वर्मा जी की तुलना राखाल बाबू से करना ठीक नहीं है क्योंकि दोनों के इतिहास-बोध, उद्देश्य और दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है।

राखाल बाबू पुरातत्व और इतिहास के पूर्ण पंडित थे, उनका सारा जीवन हिन्दूकाल के ऐतिहासिक अध्ययन, प्राचीन सिक्कों की जाँच-पड़ताल और शिलालेख आदि विविध सामग्री की तलाश में बीता था। भूगर्भ-शायी अतीत-गौरव की आकुल अभिलाषा से वह भारत के अनेक स्थानों में घूमते फिरते थे किन्तु वर्मा जी के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती है। फिर भी 'स्वर्गादपि गरीयसी' प्राण-प्यारी जन्मभूमि बुंदेलखण्ड का अतुलनीय प्यार लेकर वर्मा जी ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। राखाल बाबू की तरह वर्मा जी की दृष्टि एक युग की परिस्थितियों के पुनर्निर्माण पर नहीं है, इनका उद्देश्य उससे भिन्न है। भारत के स्वर्णयुग गुप्तकाल

की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का विशद चित्रण करना ही राखाल बाबू का चरम लक्ष्य था। इसलिये एक पूरे उत्तरापथ में फैले साम्राज्य को उन्होंने अपना आधार बनाया था। वर्मा जी केवल अतीत की याद करना चाहते हैं उसका पुनर्निर्माण नहीं क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य बीती कहानी कहना है। वस्तुतः वर्मा जी का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा है। उनकी ऐतिहासिक घटनायें बुंदेलखन्ड की सीमा तक ही परिमित हैं। क्षेत्र के इस संकोच ने वर्मा जी की कला में वह मार्मिकता ला दी है जो विस्तार की बहुलता में संभव न होती।

ड्यूमा ने फ्रांस के इतिहास को अपनी रोमान्स-माला में पिरोकर इतिहास के साथ अपने को भी अमर कर दिया है। स्काट तथा ड्यूमा की सफलता और सर्व-प्रियता का सब से महान् कारण उनकी कल्पना शक्ति के द्वारा हृदय-स्पर्शी स्थलों की कलात्मक संयोजना है। इन लेखकों ने इतिहास की जीर्ण-शीर्ण काया में जिस मांसलता और चेतनता का संचार किया है, वह वास्तव में अद्वितीय है।

हमारे देश में भी कल्पना को गतिशील और लेखनी को मुखर बनाने वाले प्राकृतिक दृश्यों और मानवीय मार्मिक परिस्थितियों से सिक्त कथानकों की कमी नहीं है, कमी केवल उन स्थलों की खोज करने वालों की है। वर्मा जी ने इस ओर बड़ी सफलता से अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग किया है। वर्मा जी के उपन्यासों की सब से बड़ी विशेषता उनके ऐतिहासिक रोमान्स हैं। इतिहास के आधार से सुगठित प्रेम-कहानी की सजीव और मर्मस्पर्शी उद्भावना में वे अकेले हैं। इसीकारण उन्हें अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास से अधिक कल्पना और जनश्रुति का सहारा लेना पड़ा है।

अपनी कल्पना को सजीव करने के लिये वर्मा जी ने बुंदेलखन्ड के ऐतिहासिक स्थानों का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने में भी कसर नहीं रखी। स्वभावतः वे जिस समय और स्थान का वर्णन करते

आधुनिक

है वह पाठकों के सामने अपनी सारी चित्रोपमता के साथ उपस्थित होकर वातावरण की सृष्टि करने में सहज ही सहायक सिद्ध होता है। वर्मा जी के उपन्यासों के पढ़ने से पता चलता है कि जिस समय का कथानक वे जनता के सामने रखना चाहते हैं, वह उनकी मानसिक दृष्टि के सामने बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ है। उनके कथानक में आने वाले सभी स्थल स्वाभाविक रूप से विस्तार के साथ पाठकों के सामने उपस्थित होते हैं। चौदहवीं शदी के युद्ध का वर्णन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने सामने तलवारों की चमक, गोलियों की सनसनाहट, आहतों की आकुल चीख, विजेताओं का अभिमानपूर्ण आह्लाद-गर्जन और युद्ध का सारा कोलाहल देख-सुन रहे हैं। वर्णन की इस चतुर-प्रणाली से उपन्यासों की प्रभावोत्पादकता तथा विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता साकार सी हो उठती है और पाठक देशकाल से पूर्णतया परिचित और वातावरण से एकरस हो जाते हैं।

वर्मा जी अपने प्रान्त से परिचित हैं। उन्होंने अपने कथानकों के घटनास्थलों में अनेकवार भ्रमण किया है, उन स्थानों के भग्नावशेषों पर बैठकर वहाँ की अतीत घटनाओं को स्मृति के सहारे जगाया है। फलतः उनके वर्णन विश्वासोत्पादकता में अपना जोड़ नहीं रखते। उनकी लड़ाइयाँ, किताबी खिलवाड़ नहीं हैं, उनकी प्रणय लीलायें, समरस व्यक्तियों की दिमागी ऐयासी की उफान नहीं वरन् प्राणों को लेने-देने वाली सजीव और स्वाभिमानी व्यक्तियों की जीवन परिस्थितियाँ हैं। वीर बुन्देलों की वास्तविक प्राण-प्रेरणायें उनकी लेखनी में उतर आयी हैं। वर्मा जी की लेखनी में वर्णन की शक्ति, भाव-प्रकाशन की कलात्मकता, चरित्र-चित्रण की क्षमता और कथानक की मर्मस्पर्शिता पहचानने के साथ साथ कहानी में आकर्षकता लाने की अपूर्व शक्ति है। चौदहवीं शदी के बुन्देलखन्ड के इतिहास के साथ

उनकी कल्पना का सम्मेलन बहुत ही स्वाभाविक और सहज रीति से हुआ है।

वर्तमान झांसी के पास ही कुंडार गढ़ है। उस समय वहाँ खँगार राजा राज्य करते थे। बुन्देले इनको नीच वंश का समझते थे और गुप्त रीति से नाना प्रकार के षड्यंत्रों द्वारा इनके समूल विनाश का प्रयत्न करते थे। बुन्देले और खँगार वीर, पारस्परिक द्वेष, आत्माभिमान और असंयम के कारण जुझौती के मैदान में किस प्रकार आपस में जूझ मरे, यही 'गढ़कुंडार' उपन्यास का दृष्टि-बिन्दु है। भयानक युद्ध और रक्तपात के बीच मानवीय स्निग्ध भावना प्रेम की अभिव्यक्ति ही इस उपन्यास की प्राण प्रतिमा है, इसमें सन्देह नहीं।

इस तुमुल कलह कोलाहल के बीच प्रेमी-प्रेमिकाओं की करुण और दुखान्त अभिव्यञ्जना पाठकों के प्राणों को तरंगित करने में अपूर्व है। वीरता के दर्प और उद्देश्य की क्षुद्रता के बीच तारा और दिवाकर की प्रेम-गंगा इस प्रकार प्रवाहित होती रहती है जैसे सघन वृक्षों से आच्छादित कठोर शिलामय वन भूमि में किसी सरिता की अजस्र जलधारा। इस प्रकार गढ़कुंडार ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ मानव-चरित्र की चिरंतन समस्याओं पर भी तीव्र प्रकाश डालता है। दिवाकर और तारा का प्रेम केवल उस समय का ही नहीं वरन् आज के हिन्दू समाज का भी एक मूल प्रश्न है। अर्जुन तथा इब्नकरीम के सुन्दर चरित्र निम्न वर्गों के प्रति वर्मा जी की उदारता के प्रतीक हैं। वर्मा जी की अन्य सभी विशेषताओं के साथ उनका कहानीकार वाला रूप सर्वश्रेष्ठ है। गढ़कुंडार बड़ी रोचकता से कही गई एक सुन्दर कहानी है। एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना इतनी स्वाभाविकता के साथ सामने आती है कि उपन्यासकार के कहानी-कौशल पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

संसार के रोमान्स साहित्य का परीक्षण करने से पता चलता है कि उसमें घटनाओं की प्रधानता आवश्यक होती है। ड्यूमा और स्काट के

आधुनिक

सभी उपन्यास रोमान्टिक इतिहास घटना-प्रधान हैं। वर्मा जी के उपन्यासों में भी यह तथ्य वर्तमान हैं। उनका चरित्र-निर्माण भी घटनाओं के माध्यम से होता है, उनकी प्रायः प्रत्येक घटना चारित्रिक विशेषता का उद्घाटन करती चलती है। स्टीवेंसन ने रोमान्स को परिस्थितियों की कला कहा है, ठीक भी है क्योंकि रोमान्स में परिस्थितियों का प्राण-प्रवेग ही जीवन को गति देता है। तभी तो रोमान्स में साहस, त्याग, वीरता और कर्मशीलता का संयोजन नितान्त आवश्यक है। वर्मा जी की रोमान्टिक प्रवृत्ति भी इसी आशय से आकुल-व्याकुल है। वास्तव में जीवन-संघर्ष की कठोरता के बीच प्रेम की स्निग्धता का निर्वाह ही सच्चा रोमान्स है। 'गढ़कुंडार' में तारा और दिवाकर का प्रेम 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद और कुंजर का प्रेम, 'प्रेम की भेंट' में सरस्वती और धीरज का प्रेम और 'कुंडली चक्र' में पूना और अजित का प्रेम—सब रोमान्स के सच्चे और शाश्वत उदाहरण हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वर्मा जी अपने कथानक के घटनास्थलों से पूर्ण परिचित हैं। उन्हें स्थानों का केवल भौगोलिक ज्ञान नहीं वरन् उनका भावनात्मक परिज्ञान भी है। वेतवा के जल को स्पर्श करने वाले विराटा के कँगारों पर वे पद्मिनी की छवि का आज भी साकार स्वरूप देखते से प्रतीत होते हैं। उस सारे वन्य प्रान्त की गढ़ियाँ उनके सामने केवल पाषाण निर्मित खोहों के रूप में नहीं वरन् जीवन को स्पन्दित करने वाली रोमान्चकारी रण-रंगस्थली के रूप में उपस्थित होती हैं। प्रकृति के साथ मानवीय भाव-उद्वेलन की भाव-प्रवणता का उनका चित्रण बहुत ही हृदय-हारी होता है।

"रात का समय था, काली रात! आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे, पवन ने पेड़ों को चूम-चूम कर सुला दिया था, वेतवा अचेत पत्थरों से टकराकर अनंत कल-कल शब्द रचकर रह जाती थी"। वर्मा जी का प्रकृति-चित्रण घटना क्रम से इतना मिला जुला रहता है कि उससे एक

नाटकीय रंगमंच की सार्थकता सहज ही साकार हो उठती है। प्रकृति के बीच में संयोजित घटनाओं और दृश्यों के चित्र पाठकों के मन में स्थायी रूप से जम जाते हैं। "कुमुद चट्टान की टेक पर खड़ी हो गई। ऐसा मालूम होता था कि मानों कमलों का समूह उपस्थित हो गया है या प्रकाश पुंज खड़ा कर दिया गया हो। पैरों के पैजनों पर सूर्य की स्वर्ण रेखा फिसल रही थी, पीली धोती मन्द पवन के झकोरों से दुर्गा की पताका की भाँति धीरे-धीरे लहरा रही थी बड़े-बड़े काले नेत्रों की बरौनियाँ भौंहों के पास पहुँच गयी थीं। आँखों से झरती हुई प्रभा ललाट पर से बहती हुई उस निर्जन स्थान को आलोकित सा करने लगी। वे चट्टानें और पठारियाँ, वह दुर्गम और नीली धार वाली बेतवा, वह शान्त भयावना सुनसान, वह हृदय को चंचल कर देने वाला एकान्त और चट्टान की टेक पर खड़ी हुई अतुल सौन्दर्य की वह मूर्ति"।

प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर स्थित यह सौन्दर्य चित्रण कितना पवित्र और आकर्षक है कहने की आवश्यकता नहीं।

"दोनों हाथ जोड़कर उसने धीमे स्वर में गाया—

मालिनियाँ, फुलवा ल्याओ नन्दन वन के।

उधर तान समाप्त हुई, इधर उस अथाह जल-राशि में पैजनी का शब्द छम्म से हुआ। धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान समेत उस कोमल कंठ को सावधानी से अपने कोष में रख लिया"। कितना सजीव और स्फूर्तिमय चित्रण है। वर्मा जी के उपन्यासों में ऐसे शब्दचित्रों की बहुलता है, जो उनकी लोकप्रियता का मुख्य और उचित कारण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्जन मन्दिर के सामने तारा का दिवाकर के गले में माला डालना, कुमुद का माँ बेतवा की गोद में विश्राम लेना, अजित और पूना का पहाड़ियों में मिलना आदि सब ऐसी घटनायें हैं जो पाठकों के मानस-पट में सदैव के लिये अंकित हो जाती हैं।

आधुनिक

इन सभी करुण कहानियों की अवतारणा इस प्रकार की गई है कि पाठक स्वयं पात्रों के रूप में अपने को देखने लगता है, यही कहानी कला की सब से बड़ी सफलता है। पात्रों के प्रति सहानुभूति की इसी सीमा को उभारने में रोमान्स की सार्थकता का रहस्य निहित है, वर्मा जी इसकी सृष्टि करने में अन्यतम हैं।

उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वीरता का चित्रण, प्रेम का पराक्रम, और इतिहास के कंकाल में जीवन-संचार के साथ-साथ उस युग की आत्मा के दर्शन कराने की भी चेष्टा की है क्योंकि समाज की विषमता, उच्च जातियों द्वारा निम्न वर्गों का तिरस्कार और जात्याभिमान द्वारा मनुष्यता की उपेक्षा का निदर्शन उनके उपन्यासों में बहुत ही खूबी के साथ दिखाया गया है। जाति विद्वेष और अनर्गल आभिजात्य के अभिमान में पड़कर एक होनहार भविष्य किस प्रकार मिट्टी में मिल जाता है, यही उनके उपन्यासों का अन्तर-प्रतिपाद्य है। वर्मा जी अपने उद्देश्य में सर्वथा सफल हैं। शृंगार और वीर का ऐसा गंगा-यमुनी सम्मेलन अन्यत्र दुर्लभ है।

वर्मा जी की इन सारी विशेषताओं की प्रशंसा करते हुये भी उनकी दो चार खटकने वाली बातों की चर्चा न करना सत्य से मुँह मोड़ना होगा। उनका उपमा-प्रियता कहीं-कहीं इतनी बढ़ गई है कि पाठक का जी ऊबने लगता है और बात की सच्चाई पर सन्देह भी होने लगता है। एक के बाद दूसरी उपमाओं के ढेर से वर्णन की स्वाभाविकता नष्ट होने लगती है।

वर्मा जी के पास भाषा की भी बड़ी कमी है, उनका कोष बहुत सीमित ज्ञात होता है। भाषा में रवानगी का नाम निशान तक नहीं रहता। अनेक स्थलों में उनके वाक्य अँग्रेजी के अनुवाद से प्रतीत होते हैं, जो हिन्दी भाषा-भाषी की आत्मा को स्पर्श नहीं कर पाते। भाषा

का अनुपयुक्त प्रयोग और व्याकरणीय त्रुटियाँ भी बहुत ही खटकने वाली होती हैं। 'स्वर्ण को लजाने वाली बालों की एक लट' अँग्रेजी सौन्दर्य-प्रियता का उदाहरण है। भारत में तो काली केशराशि का ही महत्व है। इन छोटी किन्तु अत्यन्त आवश्यक त्रुटियों की ओर ध्यान देकर वर्मा जी जो भी कथात्मक सृष्टि करेंगे, वह अनुपम होगी ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। आज भी वे अपने क्षेत्र के आदर्श अगुवा हैं।

बेचन शर्मा उग्र

सभी प्रकार की कला कृत्रिम होती है किन्तु कला की सीमा तक पहुँचने के पहले कृत्रिमता स्वयं एक प्रकार का प्राकृतिक स्वरूप धारण कर लेती है अन्यथा वह कला की संज्ञा ही ना पा सके। मानव की अन्तर्वृतियाँ जब केवल अंतर का विषय न रहकर बाह्य-लोक में प्रवेश करती हैं, तब कला का निर्माण होता है। केवल आवश्यकता की आधार शिला छोड़कर जब मानव, सौन्दर्य का भी उसमें समावेश करता है तब कला स्वयं उद्भासित हो उठती है।

कला अभिव्यक्ति है। मनुष्य अपनी भावनाओं का प्रकाशन चाहता है और इसकी सफलता में अभिव्यक्ति उसका साध्य और अभिव्यञ्जना उसका साधन है। अनेक प्रकार के माध्यमों द्वारा वह अपनी भावना को अभिव्यक्त करता है। साहित्यकार भाषा का माध्यम ग्रहण करता है अतः यह स्पष्ट है कि भाषा, साहित्यिक की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाव-जगत् का अन्तर और अनन्त कोष ही साहित्य का विषय है। साहित्यकार के मन में भावनायें उठती हैं, वह उन्हें व्यक्त करना चाहता है। व्यक्तीकरण संकेतों के द्वारा सम्भव होता है, इसीलिये भाव को भाषा का माध्यम स्वीकार कर लेने पर भाषा की क्षमता के अनुसार अपना रूप बदलना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्तीकरण, संकेत और सप्राण प्रेषणीयता साहित्यकार के प्रमुख उपादान हैं। इन तीनों का समुचित समन्वय साहित्यकार की सफलता का रहस्य है, इसमें सन्देह नहीं। भावना मनुष्य की अपनी है, अतः इसका विवेचन करते समय मनुष्य को इसके प्रत्येक क्षेत्र में देखना होगा। मनुष्य व्यष्टि है और समष्टि का अंग भी। यहीं व्यक्ति और समाज का प्रश्न सामने आता है।

कथासाहित्य

समाजवाद के पोषक समाज में व्यक्ति के एकत्व का एकान्त निर्वासन चाहते हैं किन्तु साहित्य में उसकी स्वीकृति है। अतः साहित्यकार केवल सामाजिक भावना का ही प्रतीक नहीं, वह व्यक्तिगत भावना का भी निर्माता है। जीवन की कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जहाँ सामाजिक और व्यक्तिगत भावनाएँ एक हो जाती हैं किन्तु उनकी भिन्नता भी उपेक्षणीय नहीं है। व्यक्तिगत और सामाजिक भावनाओं की भिन्नता के ही कारण एक ही समय के दो कलाकारों की कला-कृतियाँ प्रत्यक्ष रूप से भिन्न ज्ञात होती हैं। प्रगति के अंध भक्त यह प्रायः भूल जाते हैं कि साहित्यकार (व्यष्टि) के माध्यम से समाज (समष्टि) अपनी भावना को व्यक्त करता है, और इस अर्थ में वह कभी युग-भावना की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना है और इस रूप से कथा साहित्य में उग्र जी प्रगतिशील लेखक कहे जा सकते हैं।

आज हमारे साहित्य में यथार्थ का आग्रह बढ़ता जा रहा है किन्तु उग्र जी बहुत पुराने यथार्थवादी हैं। आदर्शों में आकंठमग्न जिस युग में उन्होंने यथार्थ का आनयन किया था वह उनकी प्रगति का प्रबल प्रमाण है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में भाव की प्रधानता थी, उस समय मनुष्य का जीवन स्वाभाविक मार्गों की अवहेलना नहीं कर सकता था किन्तु ज्यों ज्यों भावना पर बुद्धि का आधिपत्य बढ़ता गया लोगों ने सहज स्वाभाविकता को छोड़कर आदर्शों का अनुष्ठान करना प्रारम्भ कर दिया। फल स्वरूप भावना क्रमशः स्वाभाविक की अपेक्षा बौद्धिक होती गई, कहना न होगा कि बौद्धिकता चिंतन का फल है। जिस प्रकार चिंतन शून्य प्राकृत भावना मानवीय सभ्यता की प्रथम अवस्था की सूचना है उसी प्रकार भावना शून्य बौद्धिकता उसके पाखंड की परिचायक है। वैज्ञानिक अन्वेषण और जीवन की समस्याओं के चिंतन ने समाज की आदर्शबद्ध भावनाओं पर आघात किया और यथार्थ का आविर्भाव हुआ। उग्र जी इस भावधारा के अगुआ बने। उन्होंने

कभी आदर्श को निरपेक्ष भाव से नहीं देखा बल्कि उसे यथार्थ से संबद्ध करने का प्रयत्न किया। उनका साहित्य केवल अचेतन सहज-वृत्ति पर ही निर्भर नहीं रहता, आदर्श के अनुकरण की आकुलता पर ही नहीं मरता, उसमें सहज-स्वाभाविक यथार्थ की अभिव्यक्ति का अनुसन्धान है।

आदर्श और यथार्थ के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि पहले भाव की उत्पत्ति कल्पना में होती है और दूसरे की जीवन में। काल्पनिक साहित्य और कला हमारे जागरण में सहायक नहीं होती बल्कि गुलामी और अय्याशी की ओर हमें प्रेरित करती है किन्तु यथार्थवादी कला से हमारा जीवन गति और विकास पाता है। यथार्थ को खींच कर उसका अर्थ कुरूप नग्नता लगाने वालों से मेरा बराबर मतभेद रहा है, यह स्पष्ट कर देना यहाँ अनुचित न होगा। मैं यथार्थ का, विशेषकर साहित्यिक यथार्थ का अर्थ निम्न जीवन की नग्न कुरूपता, अश्लीलता आदि का यथार्थ न मानकर जीवन और जगत् की सहज-स्वाभाविक स्थितियों का प्राकृत चित्रण मानता हूँ। बंधन से छूटा हुआ उन्मादग्रस्त पागल जब आत्म-हत्या करता है तब उसका कारण बंधन से छुटकारा पाना नहीं होता, बल्कि उसकी उन्मत्तता होती है। उग्र जी की कृतियों का इसी दृष्टि कोण से अध्ययन किया है।

विषय की दृष्टि से उग्र जी के उपन्यासों का भी वही विषय है जो प्रसाद के 'कंकाल' तथा प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का है अर्थात् समाज की अधोगति और धर्म की आड़ में होने वाले घोर पाखंड तथा निरीह स्त्रियों के प्रति किया जाने वाला अमानुषिक अत्याचार। परन्तु इनके दृष्टिकोण में अन्तर है। इनका पहला उपन्यास 'दिल्ली का दलाल' स्त्रियों के अवैध व्यापार से ही संबंध रखता है। इसके विषय में उग्र जी का कहना है कि "अगर कोई माई का लाल सत्य के तेज से मस्तक तान यह कहने का दावा करे कि तुमने जो

कुछ लिखा है गलत लिखा है, समाज में ऐसी घृणित, रोमाँचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं, तो मैं उसके चरणों के प्रहारों के नीचे हृदय-पावड़े डालूँगा" पर प्रश्न यह नहीं है कि उपन्यास में वर्णित बातें सत्य हैं या काल्पनिक, प्रश्न तो उनके विषय में लेखक की आसक्ति अथवा अनासक्ति का है।

साहित्य में सत्य सदैव सौन्दर्य और सुरुचि के माध्यम से प्रतिष्ठित होता है। महाभारतकार की युक्ति 'एक वस्त्रा रजस्वला' को पढ़कर पाठक का मन द्रोपदी के प्रति किये गये अत्याचार से क्षुब्ध हो उठता है क्योंकि वहाँ लेखक ने अन्यायीयों के प्रति एक घृणा का भाव जगाने के लिये इसे लिखा है नकि स्वयं किसी रस-निमग्नता का आस्वादन करने के लिये ? उग्र जी के वासनापूर्ण नग्न प्रदर्शन तथा वर्णन में तटस्तता की अपेक्षा तन्मयता का ही आभास अधिक मिलता है। उसे पढ़कर पाठक अनैतिकता के प्रति क्षुब्ध होने की अपेक्षा लुब्ध ही अधिक होगा। ऐसे अश्लील तथा कुरुचिपूर्ण प्रसंगों को संसार के सामने लाने में लेखक की जिस अनासक्ति शक्ति का स्वरूप सामने आना चाहिये, वह उग्र जी नहीं कर सके। सम्भवतः इसीकारण उनका यथार्थ का आग्रह स्तुत्य होते हुये भी अपनी अभिव्यक्ति में निन्द्य हो उठा है।

वेश्यालय, मदिरालय तथा गुंडालय का वर्णन बुरा नहीं है, पर लेखक का स्वयं उसकी मोहिनी माया में धँस जाना निश्चय ही अवांछनीय है। स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करने वाले नरपिशाचों का बहुत ही प्रभावपूर्ण और यथातथ्य चित्रण उग्र जी ने किया है। भले-भले घर की भोली-भाली बालिकायें किस तरह फँसाई और उड़ाई जाती हैं इसका बहुत ही विषद चित्रण उपन्यासकार ने किया है किन्तु वर्णन की शैली वैज्ञानिक की तटस्तता से दूर और रसलोलुप शृंगारिकता से पूर्ण है। इसीलिये साहित्य के लिये हेय है। काश कि ये वर्णन इतने रसपूर्ण न हुये होते। फल स्वरूप उग्र जी को उच्छृंखल युवकों का प्यार और

संयत सयानों की बौछार दोनों का सामना करना पड़ा। कुछ लोगों ने तो इस उपन्यास को 'अछूत' तक करार दे दिया।

अपने दूसरे उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' में उग्र जी कुछ मर्यादित रूप में सामने आये। इसीकारण बुधुआ की बेटी दलालों के चतुर चंगुल में फँसी हुई बेचारी स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक छिपी-ढँकी है, यद्यपि इसका आवरण भी इतना झीना है कि उसकी लज्जा बच सकना बहुत सम्भव नहीं है। इस उपन्यास में भी समाज-कल्याण की अपेक्षा उसकी कुरूपता का विज्ञापन ही अधिक हो गया है। मिसेज यंग का रंग-रस और घनश्याम तथा राधा का कलुषित प्रेम-व्यापार आदि प्रसंग अनुचित और वासनापूर्ण तथा उत्तेजक हैं। क्षण भर के लिये यदि इन सभी प्रसंगों को सत्य भी मान लिया जाय तो समाज का केवल यही यथार्थ साहित्य में देने की रुचि, कलाकार के व्यक्तित्व की हीनता का प्रतीक है। इतनी अनोखी वर्णन शैली, इतनी चलती हुई भाषा और आकर्षक कथन प्रणाली के सिद्धहस्त लेखक होते हुये भी उग्र जी अपनी यथार्थ-प्रियता का सुन्दर रूप सामने नहीं ला सके अन्यथा आज वे कथा-साहित्य में सब से आगे होते क्योंकि ज्येष्ठता में प्रेमचन्द के बाद उन्हीं का स्थान है।

'चन्दहसीनों के खुतूत' उग्र जी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें उग्र जी की भाव-धारा उद्दाम-प्रेम के साथ हिन्दू-मुस्लिम समस्या का सुन्दर चित्र उपस्थित करने में सहज समर्थ हुई है। नरगिस का प्रेम, मुरारी का बलिदान तथा असगरी का पत्र हिन्दी कथा-साहित्य में अपने ढंग के अमर उदाहरण हैं। 'बुतखाने के परदे में काबा नज़र आता है' का हृदयहारी दृश्य वास्तव में साम्प्रदायिकता की मस्ती में मस्त दोनों जातियों (हिन्दू-मुसलमान) की आँख खोलने वाला है। हिन्दी साहित्य में यह बेजोड़ रोमांस है, इसे कोई नहीं इंकार कर सकता।

सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुये युवक हृदयों की जिस आकुलता का उग्र जी ने इस उपन्यास में उद्घाटन किया है, वह वास्तव में अद्वितीय है। मनुष्य पहले मनुष्य है बाद में हिन्दू या मुसलमान, इस सात्विक तत्व का रहस्य हमें इस उपन्यास में बड़ी रमणीयता से मिलता है। 'शराबी' के नाम के अनुरूप उग्र जी इसमें कुछ बहक गये हैं किन्तु 'जवाहर' की कहानी तथा 'मानिक' का साहस कला की उत्तम कोटि में आते हैं। वेश्यालय और मदिरालय की विषाक्त भूमि में इस उपन्यास की दुनिया बसाकर भी उग्र जी ने इसे बड़ी सावधानी से, घृणित होने से बचाया है। यह उनके परिष्कृत यथार्थ का उदाहरण है। चरित्र-चित्रण और वस्तु-वर्णन की दृष्टि से यह एक अद्भुत ही सफल रचना है। 'सरकार तुम्हारी आँखों में' में मदनसिंह की शहजादता, कामुकता एवं पाशविकता का चित्रण उग्र जी की अन्तर्दृष्टि का पूर्ण परिचय है।

'जीजी जी' उग्र जी का नवीनतम उपन्यास है। नारी जीवन के प्रति अपने विचारों के उद्घाटन का प्रयत्न इसमें लेखक ने किया है। 'जीजी' का चरित्र, करुण होते हुये गतिमय है। इस उपन्यास की करुणा, शिथिलता की नहीं वरन् कार्य की प्रेरणा देती है। यही इस उपन्यास की सब से बड़ी खूबी है।

उग्र जी के अधिकतर उपन्यास घटना प्रधान हैं किन्तु उनमें पात्रों के चरित्रों का पूरा विकास सामने आता है। घटनायें प्रायः पात्रों के आश्रित होकर आगे बढ़ती हैं और पात्रों के क्रियाकलाप से ही उनके चरित्र का चित्र पूर्ण होता चलता है। प्रत्येक घटना का सम्बन्ध पात्रों के स्वाभाविक विकास से रखा जाता है, पर कार्यकारण सम्बन्ध में कहीं कोई भूल नहीं होती। कथोपकथन सदैव नाटकीय ढंग का संक्षिप्त और मार्मिक होता है। उग्र जी की चरित्र-सृष्टि देखने से पता चलता है कि वे पात्रों के बाह्य चित्रण की ओर अधिक ध्यान देते हैं। पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करने की इनमें प्रवृत्ति नहीं है। यही कारण है

आधुनिक

कि उग्र के चरित्रों में व्यक्तिगत विशेषताओं की अपेक्षा वर्गगत विशेषतायें ही अधिक मिलती हैं। इन वर्गगत पात्रों का चित्रण उग्र जी ने बड़ी सफलता और दृढ़ता से किया है।

समाज के जिस अंग को वे चित्रित करते हैं उसके विषय में उनका परिचय पूर्ण होता है। उग्र जी, न तो आगत भविष्य के आदर्श पर विश्वास रखते न गौरवपूर्ण गत अतीत पर आस्था, वे वर्तमान के कुशल कलाकार हैं। युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा प्रणय सम्बंधी समस्याओं के वे सफल और शक्तिशाली उद्भावक हैं। यथार्थवाद इनकी कला का आधारभूत सिद्धान्त है। व्यंग, उग्र जी के साहित्य का प्राण है। निराला जी के समान ही ये व्यक्ति, समाज और शासन पर व्यंगों की अटूट वर्षा करते चलते हैं। उग्र जी की शैली सर्वथा मौलिक और मनमोहक है।

उग्र जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी भाषा की शक्ति एवं सजीवता। किसी विषय का प्रतिपादन करने की इनमें अद्भुत शक्ति है। ये, भाव-प्रवाह और व्यञ्जना-शैली की सहज मनोरंजकता में अकेले हैं। कथन की रमणीयता और दृश्य की रोचकता में उनकी समता कर सकने वाला कथाकार नहीं है। उग्र जी की भाषा कथासाहित्य के लिये आदर्श भाषा है। भाषा का सौन्दर्य देखिये—"वह इस तरह नाचती है जैसे भोरहरी की हवा में अलसी का फूल। जैसे राजा रामरूप के ऐश बाग में, उस बड़े तालाब में, रिमझिम बरसते सावन में छोटी-बड़ी लहरों पर हंसिनी नाचा करती है।

एक नमूना और—

"मेरी एक बीबी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार, कोहनूर की तरह बेशकीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लड़कपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।

मेरे एक बच्चा था। चाँदनी सा गोरा, नये चाँद सा प्यारा, गुलाबी

के कपोलों सा कोमल, प्रेम सा सुन्दर, चुम्बन सा मधुर, आशा सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी सा सुखद।

मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, ग्राम की तरह पक्की, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान पाक की तरह पाक"।

यदि सच पूछा जाय तो उग्र जी की भाषा ही उनके साहित्य को सम्मान दिलाने के लिये पर्याप्त है। वास्तव में काव्य क्षेत्र में जो स्थान भाषा परिष्करण के लिये पन्त जी का है वही स्थान गद्य क्षेत्र में उग्र जी का है। भाषा की रवानगी में वे प्रेमचन्द से कम नहीं हैं।

भगवती प्रसाद वाजपेयी

वर्तमान कलाकारों में भगवती प्रसाद जी वाजपेयी सब से अधिक विज्ञापित कथाकार हैं। उन्होंने लिखा भी बहुत है। छायावादी भावप्रवणता उनके कथानकों की मुख्य केन्द्र-पीठिका रहती है, स्वभावतः रोचकता का उनकी कहानियों में अभाव नहीं रहता। जीवन-संघर्ष से दूर भावुकता की कोमल क्रोड़ में उनके पात्र एक सहज दिव्यता का झीना आवरण डालकर पाठकों का मनोरंजन करने में समर्थ होते हैं। यदि कला को, कलाकार के भावों का इतर मानवों में सम्प्रेषण समझा जाय तो वाजपेयी जी की भावुकता से किसी को इन्कार नहीं हो सकता, उनकी अधिकाँश कहानियाँ इस बात की साक्षी हैं।

वास्तव में कलाकार वही है जो अपने भावों को दूसरों के हृदय में किसी न किसी प्रकार जाग्रत कर सके और कला, वह क्रिया है जिसके द्वारा कलाकार अपने अनुभूत भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त करे कि पाठकों या श्रोताओं अथवा दर्शकों के हृदय में वही भाव उसी आवेग से, उसी रूप में उद्वेलित हो जाँय जिस रूप और आवेग से वे कलाकार के हृदय में स्थित हैं। कला की इस सार्थकता का वाजपेयी जी स्पर्श नहीं चूकते किन्तु उनके वर्ण्य-विषय के औचित्य का मतभेद भी स्वाभाविक हो उठता है। कला भावों का सम्प्रेषण मात्र नहीं है, उसमें भावों का संयोजन भी अपना अलग महत्व रखता है।

नारी और पुरुष के यौवन-उष्णता के आवेग का आकुल आकर्षण वाजपेयी जी की प्रायः समस्त रचनाओं का आधार है किन्तु ऐसी समस्याओं के आधुनिक सस्तेपन से वाजपेयी जी मुक्त हैं। अपने विषय की सीमित किन्तु गहरी सूझ उनके कथानकों में प्रायः पाई जाती है। "विकारहीन मुख पर ज्वलंत आभा झलकाते हुये प्रेमाँकुर बोला—

"नहीं तो करुणा, ऐसा भी क्या कभी हो सकता है। कभी नहीं, प्रेम कभी विकृत नहीं होता---वह सदा एक रस रहता है। लोग भले ही उसे समझने में भ्रान्त हो उठें"। प्रेम का यही स्वरूप वाजपेयी जी का साध्य है। उनके कथानकों की यह प्रेम-पीड़ा अन्त में विच्छेद की ज्वालामयी गोद में भस्मीभूत हो जाती है। श्री नन्ददुलारे जी ने ठीक ही लिखा है---"दुःख और कष्ट सहन उनके मुख्य आकर्षण हैं, उनकी कथाओं में इन्हीं दोनों का प्रधान स्थान है। असाधारण की ओर प्रवृत्ति होने के कारण दुःख और कष्टसहिष्णु चरित्र भी वे उच्च और मध्यवर्गीय समाज में से चुनते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जो दुखान्त नाटक सर्वहारा समाज द्वारा खेला जा रहा है, वाजपेयी जी ने अभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया"। इसका कारण भी स्पष्ट है।

वाजपेयी जी किसी विशेष सैद्धान्तिक भाव-धारा की प्रेरणा से साहित्य-सृजन नहीं करते। उनकी कला कृतियाँ किसी राजनीतिक अथवा आर्थिक उद्देश्य की पूर्णता का प्रयास करती नहीं जान पड़तीं, वे केवल जीवन के स्निग्ध तथा सम्पन्न व्यवहार स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण की रंगीन चित्रावलियाँ हैं। पक्षियों के कोमल कलरव की भाँति, बिना किसी विशेष भावाभिव्यक्ति और अभिप्राय के भी पाठकों के सामने वाजपेयी जी के मोहक चित्र अपना अलग सौन्दर्य-संस्थापन करने में सफल हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सौन्दर्य, इन्द्रियों द्वारा अनुभूत एक परम तत्व है किन्तु इन्द्रियों के आगे आत्मा तक उसकी गति नहीं है। उसका उद्देश्य मनुष्य की इन्द्रियलालसा को उत्तेजित कर उसे शारीरिक आनन्द प्रदान करना है। यही कारण है कि सौन्दर्य बिना सत्य और शिव के सम्मेलन के केवल भौतिक और नितान्त स्थूल रह जाता है। वाजपेयी जी ने बुद्धि-ग्राह्य चरम तत्व, सत्य का अनुसन्धान करने की चेष्टा नहीं की वरन् उन्होंने केवल सौन्दर्य की मोह-माया में अपनी प्रतिभा को अन्तर्लीन कर दिया है। आभिजात्य

आधुनिक

वर्ग की सभ्यता तथा संस्कृत से प्रभावित कलाकार कभी जीवन और जगत् की वास्तविक स्थिति का अध्ययन भी नहीं कर पाता।

जब से हिन्दुस्तान में अँग्रेजी पूँजीवाद की छत्र छाया में भारतीय पूँजीवाद का जन्म हुआ तब से इस देश में मध्य श्रेणी के लोगों की संख्या स्वभावतः बढ़ने लगी। आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग सब से अधिक पीड़ित है किन्तु इसका मानसिक धरातल उच्च श्रेणी की आकाँक्षाओं से आपूरित है। अधिकतर हमारे साहित्यक इसी मध्य श्रेणी के व्यक्ति हैं। स्वभावतः वे प्रायः सभी अपने से उच्च वर्ग में जाने की कोशिश करते हैं और यदि आर्थिक दृष्टि से उसकी समता नही कर पाते तो मानसिक धरातल में अपने को उससे किसी प्रकार कम भी नहीं समझते। उच्च श्रेणी के लोग अधिकतर परोपजीवी होते हैं, इसलिये अपने मनोरंजन के लिये रोमान्स की ओर उनकी सहज प्रवृत्ति होती है। उन्हें सुविधा और अवकाश भी रहता है उन्हीं की नकल साहित्यिक भी अपनी रोमान्टिक प्रवृत्ति से करता है।

वाजपेयी जी युवक-युवतियों के प्राकृत आकर्षण का स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण तो करते हैं किन्तु जिस समाज में वे रहते हैं उसका आदर्श आज तक सामन्तशाही युग का ही है—वर्णव्यवस्था, जन्मजात अभिमान और सम्पन्नता, जातिव्यवस्था और दूसरे के शोषण की प्रवृत्ति तथा नारी के प्रति हीन भावना से उनका मानसिक धरातल उच्च श्रेणी की समता के कारण इन्हीं उपर्युक्त आभूषणों से आभूषित है। यदि वे कभी सामाजिक विषमताओं और आडम्बरों के प्रति विद्रोह भी करना चाहते हैं तो उसी क्षण उच्च वर्गीय दर्शन—भाग्य, स्वर्ग और ईश्वर उनके सामने आकर उन्हें आतंकित कर देते हैं। अभिजात वर्ग की भावना उन्हें विद्रोह से सुधार की ओर मोड़ देती है।

वाजपेयी जी के औपन्यासिक चरित्र जीवन-संघर्ष की ओर बढ़ते तो हैं किन्तु अन्त में काम-विकार, नियति की निर्ममता तथा जीवन की

निराशा से पराजित होकर चीखने लगते हैं। प्रायः उनकी सभी चारित्रिक विशेषताएँ चरित्र के पुरुषार्थ को नहीं वरन् नियति को आत्मसमर्पण कर देती हैं—"अब मुझे याद आया, फूल ने एक दिन कहा था—अब मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जाऊँ। वैसे तो तुम कभी मुझे मिल न सकते, ऐसे ही मिल गये हो। आज बार-बार जी में आता है, मैंने जो उसे छोड़ने की चेष्टा की, तो उसी ने मुझे छोड़ दिया। विधि की यह कैसी विचित्र लीला है"। विधि की यह लीला और व्यक्ति का यह परिस्थिति-सन्तोष सामन्तशाही युग का दर्शनाभास है।

'प्रेम-पथ' 'लालिमा' और 'पिपासा' उपन्यासों में रोमान्स के आकर्षण-विकर्षण का यही द्वन्द्व वाजपेयी जी ने चित्रित किया है प्रेम-पथ में वासना के नानारूपों के विस्फोट और कर्तव्य से उसके संघर्ष का विशद चित्रण है। पिपासा में नरेन्द्र और उसकी पत्नी शकुंतला तथा दोनों के मित्र कमलनयन की प्रेम-पीड़ा का बहुत ही सहानुभूतिमय निदर्शन हुआ है। सामाजिक बन्धन से, शकुंतला नरेन्द्र के प्रति एक उत्तरदायित्व रखते हुये भी अपना नारी-हृदय कमलनयन को निछावर कर देती है किन्तु उसमें अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति का साहस नहीं है, वह अपनी भावनाओं को सक्रिय रूप नहीं दे पाती और अन्त में इस जटिल संघर्ष से बचने के लिये आत्म-हत्या की हीन-वृत्ति का सहारा लेती है। प्रेम की पीड़ा का यह अन्त अस्वाभाविक और अकल्याणकर है किन्तु शकुन्तला अपने रूढ़ि-संस्कारों के पारलौकिक सुख लिप्सा से इस जघन्य कार्य-संपादन में ही अपना कल्याण देखती है।

साहित्य में ऐसे पात्रों की सृष्टि समाज में निष्क्रियता को प्रश्रय देने वाली और थोथी भावुकता को उभाड़ने वाली होती है। वाजपेयी के पात्र जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों में, चाहे वे सामाजिक हों या आर्थिक अथवा दैविक कभी भी सफलता नहीं पाते क्योंकि मानसिक-विलास को

आधुनिक

शिथिलता उन्हें संघर्ष नहीं करने देती स्वभावतः उनमें शक्ति नहीं समर्पण का आधिक्य रहता है। वे नियति के हाथों का खिलौना बनकर इधर-उधर लुढ़कते फिरते हैं।

समाज में विरोध है, विषमता है, एक अनवरत संघर्ष चल रहा है किन्तु इसके निराकरण का साधन भाग्य और ईश्वर में खोजना मानवीय सभ्यता और बुद्धि का उपहास करना है। आज के युग की पुकार जीवन से पलायन की नहीं संघर्ष द्वारा साम्य लाने की है। कला में सौन्दर्य की भाँति जीवन में साम्य अनिवार्य है अन्यथा जीवन, जीवन न होकर मरण का ही प्रतिरूप बना रहेगा। मरण की ममता और संघर्ष से उदासी को उभाड़ने वाला साहित्य सामाजिक और सामूहिक अहित का कारण होता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार के चित्रणों में यदि कलाकार एक बौद्धिक निस्संगता का आधार ले सके तो उसका दोष बहुत कुछ क्षम्य माना जा सकता है किन्तु श्री नन्ददुलारे जी के शब्दों में वाजपेयी जी का चित्रण-क्रम तटस्थता लिये हुये नहीं है और अक्सर यह आशंका उत्पन्न करता है कि रचनाकार की व्यक्तिगत सहानुभूति भी अस्तव्यस्त जीवन की अस्तव्यस्त प्रवृत्तियों के प्रति है। वास्तव में जीवन की निराशामयी तथा भाग्य-संचालित स्थितियों के सृष्टिकर्ता साहित्यिक को स्वयं निराशावादी होना पड़ता है, अन्यथा उन स्थितियों के प्रति उनकी भावुकता पूर्ण सहानुभूति का संचरण ही सम्भव न हो सके। अपनी कोमल प्रवृत्ति और भावुकता के बस होकर वे उन चित्रों में जीवन का आदर्श देखने लगते हैं, किन्तु वे चित्र तो हैं अगति के आदर्श, उन्हें प्रगति का आदर्श कैसे बनाया जा सकता है। यहीं से कलाकार ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रण छोड़कर ह्रासोन्मुख कला की सृष्टि करने लगता है। वह समय के प्रवाह में बह चलता है और अपना असली उद्देश्य छोड़ बैठता है। तब तो वह विवेक को त्यागकर लिप्सा और खुमारी का शिकार हो जाता है और अगति

में होकर प्रगति की कल्पना करने लगता है। वाजपेयी जी ने भी अपनी कृतियों में यही किया है।

'पतिता की साधना' में नन्दा और हरी अपने मन की संतोष-साधना में अटल रह कर एक दूसरे को प्राप्त कर लेते हैं। विधवा नन्दा की जीवन की वास्तविक स्थितियों पर साधना का काल्पनिक आवरण डालकर उसे जीवन की तृप्ति पर पहुँचा देना वाजपेयी जी की ही कला का रहस्य है।

'दो बहनें' उपन्यास में लता और आशा दोनों बहनें ज्ञानप्रकाश को प्रेम करती हैं (बहुधा वाजपेयी जी की नायिकायें प्रेम-प्रदर्शन में पुरुष को मात करने वाली और स्वयं आगे बढ़ने वाली होती हैं) प्रेम के स्फूर्तिमय आवेगों और मानसिक विपन्नता जन्य असफलता की आँधियों का इसमें सजीव चित्रण है। दो बहनों के एक ही प्रेमपात्र होने के कारण उनके हृदय में [illegible] प्रति[illegible], द्वेष और व्यावहारिक घात-प्रतिघात का निर्वा[illegible] है। मानसिक स्थूल द्वन्द्व का सफल चित्रण [illegible] और [illegible] से यह उपन्यास वाजपेयी जी की सब से सफल रचना है। पुस्तक समाप्त करने के पश्चात् 'प्रेसीडेन्ट' नामक फिल्म देखने वाले पाठकों को उपन्यास के कथानक में उस चित्रपट के कथानक का आभास मिले बिना नहीं रह सकता। मेरा स्वयं भी यही अनुभव है।

वाजपेयी जी का नवीनतम उपन्यास 'निमंत्रण' है इसमें उन्होंने कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचन की चेष्टा की है। आज के युग के सामने दो मार्ग उपस्थित हैं। एक कलाकार को प्राचीन रूढ़ियों के द्वारा विशेषाधिकार प्राप्त विश्वासों के प्रति आस्था और आशङ्का का भाव जगाती है तो दूसरी उसे सामूहिक मानवता के कल्याण के लिये निर्मित नवीन सामाजिक विश्वासों के प्रति आकर्षण

आधुनिक

तथा प्रलोभन देती है। सचेष्ट तथा सजग कलाकार इन समस्याओं को जीवन-अनुभवों के द्वारा ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता है किन्तु ऐसा करने के पहले उसे अपने जन्मजात सांस्कृतिक तथा सामाजिक संस्कारों से विकट संघर्ष करना पड़ता है।

'निमंत्रण' में कलाकार के इसी संघर्ष का दर्शन सामने आता है। पृथ्वी, मनुष्य और समाज के सम्बन्ध में बदली हुई धारणायें यदि साहित्य में भी प्रतिष्ठित हों तो यह आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि साहित्य का पोषण तथा वर्द्धन सदैव समाज से ही प्राप्त रस द्वारा होता है। इस पृथ्वी पर पले और बढ़े कलाकार की कलाकृति किसी अपार्थिव माप से नहीं जाँची जा सकती उसे इसी सामान्य मानवीय धरातल की कसौटी पर अपनी सच्चाई की परीक्षा देनी होगी तभी साहित्य युग, जीवन, समाज और जगत् की वास्तविक परिस्थिति से अपनी सापेक्षता सिद्ध कर सकेगा, अन्यथा नहीं। युग-जागरण की इस चेतना को वाजपेयी जी ने हृदयंगम करने का प्रयास तो अवश्य किया है किन्तु अभी वे अपने मध्यकालीन आदर्शों तथा संस्कारों से मुक्ति नहीं पा सके, उनका 'निमंत्रण' पुकार कर यह कहता सा जान पड़ता है।

अनेकबार ऐसा होता है कि कलाकार अपने व्यक्तिगत जीवन के किसी मार्मिक स्थल की प्रतिक्रिया को अपने साहित्य से अलग नहीं रख पाता। उसके जीवन की पार्थिव अतृप्ति उसके कला का एक अंग बन जाती है, जो उसकी प्रत्येक कृति में पानी में डूबते हुये घड़े की भाँति बिलबिला उठती है। स्त्री-पुरुष का वासना जन्य आकर्षण वाजपेयी जी की कला का केन्द्र-बिन्दु सा बन गया है। उनकी प्रत्येक रचना में एक नवयौवना अपने उश्रृंखल रूप-व्यापार का प्रदर्शन करती सी दिखाई पड़ती है और उसे प्रायः अपने समर्पण में सफलता नहीं मिलती। उसके इस क्षोभ का वातावरण सारे कथानक को छा लेता है।

'निमंत्रण' भी इसका अपवाद नहीं। यहाँ भी मालती के दर्शन हमें उसी रूप में होते हैं। "यह जार्जेट की साड़ी, रंग हलका आसमानी, जिसमें उड़ते हुये बादलों का आभास। यह किनारे पर सफेद चमकीला गोटा, जिससे पता चले कि कभी कभी बिजली भी चमक उठती है। यह ब्लाउज, जिसकी भूमि नारंगी, लेकिन छाप जिसमें अंगूर के बैंजनी गुच्छों और उनके हरी-हरी पत्तियों की। ये गोरी माँसल अनावृत बाहें और स्कन्धमूल से उँचाई का पथ-निर्देश करने वाले वक्ष-कन्दुक। ये नोकदार नयन, जिनमें आकर्षण का मद और निमंत्रण। यह शृंखलित, नीचे की ओर पतली पड़ती हुई वेणी, गुम्फित, काली रेशमी चोटी को नितम्ब-प्रान्त के और नीचे तक लहराती हुई"।

इस प्रकार की युवती थोड़ा बहुत वेश भूषा परिवर्तन के साथ उनकी प्रत्येक कृति का शृंगार करती है। उसके हाव-भाव और उत्तेजना में कहीं कोई अन्तर नहीं आता। समर्पण की साध भी उसकी सनातन रहती है। मालती शर्मा जी से कहती है—"ऐसी बात हो तो मैं जीवन भर के लिये निमंत्रण देती हूँ। आपको कहीं जाने की आवश्यकता नहीं होगी"। अन्य अनेक बातें वह ऐसी करती है जो स्त्री की सहज स्वाभाविक शालीनता के नितान्त प्रतिकूल पड़ती हैं। विनायक से कहे गये मालती के यह शब्द कि आप सेक्स की दृष्टि से सबनार्मल हैं, ऐसे लगते हैं जैसे कथाकार ने उससे गला घोंटकर जबरन कहलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि बीच-बीच में बाजपेयी जी ने समाज और अर्थनीति की अनीति की भी चर्चा चलाई है किन्तु उससे पाठक किसी निश्चित ध्येय पर नहीं पहुँच सकता, क्योंकि उनकी विशेषता एकान्त स्वगतोक्तियों से अधिक नहीं है। उनका अर्थ समझने में असमर्थ पाठक झुँझला कर रह जाता है।

रोमान्स, लिप्सा और उत्तेजना पूर्ण आत्महत्या के प्रयत्नों के बीच

आधुनिक

उनके सामाजिक विद्रोह की भावना अनन्त जलधारा के बीच बुद्बुदों की भाँति खो जाती है।

वाजपेयी जी ने भूमिका में लिखा है कि अपने इस दसवें उपन्यास में मैंने जो कुछ लिखा है वह सब सच्चा और यथार्थ है। पर मैं तो निस्संकोच यह कह सकता हूँ कि वे दसवें उपन्यास में जितने अस्वाभाविक हैं उतने किसी अन्य में नहीं। इसका प्रत्येक चैप्टर अपने में फुर्र है। कथानक में इतनी असम्बद्धता है कि दूरूहता की भी सीमा के परे पहुँच जाता है। पात्रों तथा घटनाओं की इतनी बहुलता है कि किसी भी पात्र के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता, पाठक पात्रों से अपरिचित सा रह जाता है। उसके मानस-नेत्रों के सामने केवल मिस मालती की लीला-रासमयी क्रीड़ा ही प्रत्यक्ष रूप से नाचती रहती है।

वाजपेयी जी के उनपयासों का सम्बन्ध समाज के केवल उसी स्वरूप से है जिसके अनुसार वह नारी को केवल काम-क्रीड़ा-केलि की पुतली समझता रहा है। वासना की शारीरिक अतृप्ति से जो पीड़ा मानव मात्र में होती है उसी का स्पष्ट स्वर हमें उनकी कृतियों में सुनाई पड़ता है। यद्यपि मानवता के चीत्कार के रूप में वे कृतियों के मुख्य पृष्ठ पर विज्ञापित हैं। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण की व्यवस्था से उत्पन्न पीड़ा की तरफ उन्होंने कतई ध्यान नहीं दिया। 'निमंत्रण' के सामाजिक विद्रोह किसी स्नायुक व्याधि से पीड़ित व्यक्ति के अवचेतन उद्गारों की भाँति विश्रृंखलित और अव्यवस्थित हैं। उनमें हम कभी गोर्की, कभी फ्रायड और कभी रोमारोंला की बात का का प्रतिपादन पाते हुये कि कर्तव्य विमूढ़ की स्थिति में रमे रहते हैं। लेखक का उद्देश्य हमारे सामने कभी स्पष्ट नहीं हो पाता, 'निमंत्रण' को उपन्यास न कह कर 'बुक आफ कोटेशन' कहने की इच्छा होती है।

साहित्यिक जब अपनी अनुभूत और मननशील धारणाओं को छोड़कर विश्व के सारे ज्ञान को अपने में समेट लेना चाहता है तब उसकी यही दशा होती है। सम्भवतः इसीलिये कहा गया है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावह।' यदि वाजपेयी जी अपनी खुमारी की रोमान्टिक नींद के स्वप्न को छोड़कर सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की यथार्थ परिस्थितियों के विवेचन और उसके जागरणमय नव-निर्माण में सहयोग दें तो उनकी कला की सार्थकता चरितार्थ होने में कोई सन्देह न रह जाय क्योंकि प्रतिभा और स्फूर्ति की उनमें कमी नहीं है। कलाकार की सफलता का रहस्य बुद्धि की विशिष्ठता के साथ युग-जागरण में सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वाजपेयी जी से हमें, भविष्य में ऐसी ही कला-सृष्टि की आशा है।

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण जी वर्मा ने कविता, एकाँकी नाटक, कहानी, तथा उपन्यास सभी लिखा है। पत्र का सम्पादन भी वे कर चुके हैं। आजकल साहित्य का यह क्षेत्र छोड़कर सिनेमा संसार की शोभा बढ़ा रहे हैं। साहित्य के प्रायः प्रत्येक प्रकार में काम करने वाले कलाकार दो श्रेणी में विभाजित किये जा सकते हैं। पहले तो वे हैं जिन्हें वास्तव में ऐसी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा मिली है कि वे साहित्य के हर अंग और अंश को अपनाकर उसमें सफलता पूर्वक अपनी शक्ति का संचरण करते हैं। हमारे आधुनिक साहित्य में प्रसाद ऐसे ही कलाकार हैं। दूसरे वे होते हैं जो अपनी मानसिक अव्यवस्था के कारण साहित्य के भिन्न स्वरूपों में अपनी कार्य-कुशलता का परीक्षण और प्रयोग करते रहते हैं। इन प्रयोगात्मक रचनाकारों के पास न तो कोई एक निश्चित सिद्धान्त रहता और न कोई अनुभूत उद्देश्य। कहना न होगा कि वर्मा जी इसी दूसरी श्रेणी के कलाकार हैं।

किसी भी व्यवस्थित साहित्य-सृजन या कार्य-संपादन में प्रतिभा के साथ-साथ व्यक्ति के आत्म-विश्वास और कर्मठता का भी विशेष हाथ रहता है किन्तु वर्मा जी व्यक्ति को परिस्थितियों का दास समझते हैं। अतएव परिस्थितियों से ऊपर उठने के लिये वे संघर्ष करना उचित नहीं समझते और उनके साथ समझौता करते हुये तीव्र धारा में प्रवाहित पुष्प की भाँति इधर उधर भटकते फिरते हैं। उनके लिये, इसीकारण जीवन में 'अविकल उत्पीड़न विकास है और शान्ति है ह्रास' का ही सन्देश सुनाई पड़ता है। ऐसे विश्व में वे 'मस्ती का आलम साथ लेकर धूल उड़ाते हुये चल रहे हैं। यहीं उनका जीवन-

दर्शन है और इस दर्शन तथा विश्वास के साथ कलाकार के सामने 'स्वयं खिलौना बनो, खेल में अपने को खोकर खेलो' का एक मात्र साधन शेष रह जाता है।

मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत् की संवेदनाओं के कारण जो विकार उठते हैं, वे मिलकर मनुष्य के भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। मूल रूप से भाव दो ही होते हैं, सुख और दुख। मनुष्य अपनी वैयक्तिक चेतना के स्पंदन में या तो सुख का या दुख का अनुभव करता है किन्तु सामूहिक चेतना की स्थिति में वह दोनों का अनुभव कर पाता है क्योंकि सम्पूर्ण जीवन और जगत् में इन दोनों भावों का विकास-क्रम बराबर चलता रहता है। वास्तव में इस सारे विश्व का संचालन कभी एक भाव से हो भी नहीं सकता है, इसके लिये सुख-दुख का सामञ्जस्य आवश्यक है। विश्वव्यापी यह दोनों भाव व्यक्ति की एकान्त सीमा में पहुँच कर राग और द्वेष का रूप धारण कर लेते हैं।

कहा भी गया है कि 'सुखाद् रागः' और 'दुखाद् द्वेषः'। आत्मा की वृद्धि, विस्तार और व्यापकता का भाव राग की उत्पत्ति करता है और उसके ह्रास, संकोच और अल्पता की चेतना व्यक्ति में द्वेष की उद्भावना करती है। जब कलाकार अपनी पार्थिव और व्यक्तिगत अतृप्ति की पीड़ा का अनुभव अपनी कला के माध्यम से संसार को देना चाहता है तब उसकी कला में शेष सारे संसार के प्रति एक क्षोभ और द्वेष का भाव अनिवार्य हो उठता है क्योंकि वह संसार को अपनी इस पीड़ा का कारण मानने लगता है। जीवन-संघर्ष और उसकी विषम परिस्थितियों के आघात को न सह सकने के कारण वह विचलित होकर संसार के प्रति एक असफलता जनित उपेक्षा का भाव दिखाने लगता है। आवेश और आक्रोश की आकुलता में यह उपेक्षा कभी कभी एक प्रकार के अशक्त विद्रोह का जामा भी पहन लेती है।

आधुनिक

वर्मा जी का जीवन और जगत् के प्रति ऐसा ही विद्रोह उनकी कृतियों में कभी-कभी व्यक्त हुआ है। उनका यह विद्रोह नियति की निमर्मता और निराशा की निरीहता का प्रतिफल है नकि किसी विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित सामूहिक जागरण का निर्भीक स्वर। उन्होंने साफ-साफ लिख दिया है कि—

मैं देख रहा यह मानवता
कितनी निर्बल कितनी अनित्य।

आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं से संतप्त और व्यक्तिगत सुख-साधना से अतृप्त व्यक्ति संसार की वास्तविकता से विमुख होकर या तो पुरातनता का पल्ला पकड़ता है या आगत भविष्य की कलित-कल्पना में अपना विश्राम-स्थल खोज निकालता है। कलाकार की रोमान्स-प्रियता भी उसे वर्तमान की उपेक्षा का पाठ पढ़ाती है, इसमें सन्देह नहीं। वर्मा जी ने 'चित्र लेखा' में पाप-पुण्य के विवेचन के सहारे दूर अतीत को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है और 'तीन वर्ष' में उन्होंने अति आधुनिकता (निकट भविष्य) का आश्रय ग्रहण किया है।

'चित्र लेखा' में चन्द्रगुप्त मौर्य का समय हमारे सामने उपस्थित होता है, एक ओर पाटलिपुत्र का विशाल वैभव और दूसरी ओर आश्रम-जीवन का कार्य-क्रम, उसका अध्ययन और दर्शन। कथानक में फ्रांस के प्रसिद्ध कलाकार अनातोल के उपन्यास 'थायस' की कुछ प्रच्छन्न छाया दिखाई पड़ता है, किन्तु मूल आधार इस उपन्यास का भारतीय उपनिषदों से निर्मित है। इस उपन्यास की विवेचना के पहले यह कह देना आवश्यक है कि कलाकार के जीवन का सब से बड़ा सत्य उसका वर्तमान युग होता है। इसकारण विकासशील साहित्य का चित्र पट सामयिकता को भुलाकर किसी अन्य युग के सहारे निर्मित नहीं किया जा सकता। जीवन की परिस्थिति और वातावरण के अनुसार

कलाकार के भीतर भावों का स्फुरण होता है, उसके साहित्य में इन्हीं भावों की उद्भावना कलात्म सचाई की परख होती है।

साहित्य में अतीत की विस्मृत घटनायें तथा विचार धारायें कभी अपने बल पर जीवित नहीं रहतीं, अमरता का वरदान उन्हें कलाकार अपनी युग-भावना में प्रतिष्ठित करके देता है। ऐतिहासिक यक्ष की सत्यता सन्देह जनक है किन्तु कालिदास का यक्ष अमर और नित-नव नवीन है। सामयिक जीवन की दूरी और समकालीन पाप-पुण्य की भावधारा की अवहेलना के कारण 'चित्रलेखा' की विशिष्टता कुछ शिथिल पड़ गई है। वह आज के जन-जीवन का अंग नहीं बन सका, उसकी समस्याओं का कोई सुझाव नहीं दे सका और न किसी सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति ही कर सका। वर्तमान सामूहिक व्यवस्था के निर्माण में उसकी कोई देन नहीं है। यह भी कहना अनुचित है कि पाप की समस्या पर उपन्यास ने पूर्ण प्रकाश डाला है।

वर्मा जी के अनुसार पाप-पुण्य का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर न होकर परिस्थितियों पर रहता है, इसीलिये उनकी राय में जिसे समाज पापी समझता है वह योगी से बढ़ कर होता है। समाज के सुधर नव-निर्माण की आवाज कलाकार उठा सकता है किन्तु अपनी व्यक्तिगत रुचियों के प्रतिकूल होने के कारण उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि असमाजिकता कला का कलंक है। 'चित्रलेखा' का न बीजगुप्त पापी है न कुमारगिरि यहाँ तक कि श्वेतांक भी पापी न होकर एक दुर्बल मानव है। महाप्रभु रत्नाम्बर की पाप की व्याख्या स्वयं लेखक की तत् सम्बन्धी भावनाओं के प्रकाशन में सहायक सिद्ध होगी। "संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं, वह

आधुनिक

केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा" ? पाप-पुण्य की यह व्याख्या एक निष्क्रियता को प्रश्रय देने के अलावा दूसरा कोई महत्व नहीं रखती।

'चित्रलेखा' का चरित्र बहुत ही उलझा हुआ अस्पष्ट है। बीजगुप्त और कुमारगिरि दोनों को वह प्यार करती है किन्तु अपने प्यार के अपेक्षाकृत निकट आधार का निर्णय नहीं कर पाती, यह उसकी मानसिक तथा चारित्रिक उलझन का एक उदाहरण मात्र है। 'चित्रलेखा' के प्रायः सभी पात्र वर्मा जी की भावनाओं के विवश वाहन हैं, उनका अपना स्वतंत्र कोई विकास नहीं है। वे कलाकार की सृष्टि न होकर उसकी दृष्टि का अनुसरण करते से जान पड़ते हैं। जीवन की कठिन कर्मभूमि में ये सजीव पात्र न होकर कठपुतली की भाँति शासित और संचालित होते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का कोई पात्र न तो कलाकार के समय की सामाजिक अवस्था का रहस्योद्घाटन करता न अपने उस युग का प्रतिनिधित्व। वस्तुतः पाठक के लिये उनका कोई महत्व नहीं रह जाता।

उपन्यास में पात्रों को कलाकार की अभिव्यक्ति का साधन वहीं तक बनाया जा सकता है जहाँ तक कलाकार अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुये उनसे ऐसी बातें कहलाता है, उनसे ऐसे कार्य कराता है, जो सामान्य मानवीय अनुभूतियों की सीमा में सहज ही अपनी स्वीकृति पा सकें, अन्यथा व्यक्तिवाद के दुरुपयोग के साधन बनकर वे अपना व्यक्तित्व सर्वथा खो बैठते हैं। कहना न होगा कि 'चित्रलेखा' के सभी पात्र ऐसे ही हैं। साहित्यिक सत्य की स्वीकृति इतिहास तथा कलाकार के व्यक्तिगत विचारों से उतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना समाज की सामूहिक सम्भावना तृप्ति के संतोष से। यदि समाज को उससे इस प्रकार का संतोष नहीं मिलता तो वह साहित्य निष्फल और

निष्प्राण है। इस उपन्यास के कथानक का गम्भीर वातावरण, भाषा की सौम्यता और प्रवाह अवश्य ही प्रशंसनीय है।

'तीन वर्ष' वर्माजी का, अब तक आखिरी उपन्यास है। इसमें 'चित्रलेखा' की निष्ठा और गंभीरता एकदम गायब है।' चित्रपट में उपयोग होने के पहले 'चित्र लेखा' की काफी चर्चा नहीं हुई थी जिसकी प्रतिक्रिया 'तीनवर्ष' की भूमिका में व्यक्त हो उठी है। बड़े आत्मविश्वास के साथ लेखक ने अपने उपन्यास की तुलना संसार के अन्य श्रेष्ठ उपन्यासों से करने की बात पर जोर दिया है, सम्भवतः इसकी श्रेष्ठता पर उसको पूर्ण विश्वास है। जो वह नहीं है वही बनने या समझे जाने की भावना मानवीय दुर्बलता का एक करुण पहलू है, ऐसा न होने से व्यक्ति आत्म-प्रशंसी बन जाता है। सामाजिक सम्मान की तृप्ति न पाकर वह अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा करने को बाध्य होता है।

कलाकार के जीवन में अहंकार की अभिव्यक्ति की यह पहली सीढ़ी है, इसके फल स्वरूप आत्मश्लाघा के गह्वर में तर्क और विवेक का विलीन हो जाना बहुत स्वाभाविक और सहज हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की विकास-शीलता में आत्म-विश्वास का बहुत महत्व है किन्तु कृतत्व के अभाव में केवल भाव का वही मूल्य होता है जो उद्यान में निरगंध रंगीन कुसुम का। भाव की मानसिक स्थिति और उसकी सक्रिय अभिव्यक्ति में बड़ा अन्तर होता है, इसे सदैव स्मरण रखना होगा। भाव की प्रेरणा के अनुसार कार्य न करने से हृदय उस वृत्ति को छोड़ देता है और उस भाव के लिये सदा को जड़ बन जाता है। वर्माजी की अपने उपन्यास के विषय में कही गई लम्बी चौड़ी बातों का इससे अधिक कुछ महत्व नहीं क्योंकि उपन्यास के निर्वाह में वे वैसी सफलता नहीं पा सके जिसका विश्वास उन्होंने भूमिका के द्वारा दिलाने की चेष्टा की है।

इस उपन्यास में यूनीवरसिटी जीवन तथा होटल और रेस्टाराँ वाले कृत्रिम, मिथ्या या अर्द्ध सत्य जीवन की रसमय झाँकी है। पाठक, इसके कथानक मे आनेवाले घूरे और जगाती को छोड़कर अन्य सभी पात्रों के प्रति शंकाशील हो उठता है। वेश्यालय और मैखाना वाला प्रसंग कोढ़ में खाज का काम करता है। बीच-बीच में आगे हुये अर्थ-शून्य दार्शनिक प्रसंग टाट के गद्दे में मखमली ठेगरी की भांति अशोभन लगते हैं। रमेश एक आदर्शवादी पुस्तकों का कीड़ा बुद्धू विद्यार्थी है। उसका परिचय राजकुमार अजित से होता है, जो जीवन की वास्तविकता को अपने वर्ग के अनुकूल उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। अजित के भीतर का दार्शनिक जीवन के प्रति सजग और चिंतनशील है। कहानी समाप्त होते होते वह रमेश का भाग्य निर्माता सा बन जाता है और साधु एवं सुधारक बनने की आकस्मिक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है।

परोपकार की यह अचानक क्षमता पाठकों के विश्वास को अस्थिर कर देती है क्योंकि जीवन की विशेष अवस्था तक पोषित संस्कार और स्वभाव में इतना शीघ्र परिवर्तन होना सहज और स्वाभाविक नहीं होता। उधर रमेश का बड़ी आसानी और सहज-भाव से नवीन वातावरण एवं सामाजिक विभिन्नता के प्रति अभ्यस्त हो जाना भी आश्चर्य उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। लज्जाशील, अध्ययनशील आदर्शवादी रमेश एकदम दानव बन बैठता है। मद्यपान में कोई उसकी समता नहीं रखता, रोमान्स में भी उसकी रौनक बहुत बढ़ी-चढ़ी है। प्रभा से उसका प्रेम होता है किन्तु वह उससे विवाह नहीं करती क्योंकि उसके पास भोग-विलास के साधन, धन का अभाव है। इसके बाद रमेश का प्यार एक सरोज नामक वेश्या से होता है जो रमेश के लिए अपना तन, मन तथा धन सब अर्पण कर देती है फिर भी रमेश को शान्ति नहीं मिलती।

कथासाहित्य

सरोज के प्रति कलाकार की पूरी सहानुभूति है, उसने उसे संसार तथा समाज की कलुष-कालिमा के कलंक के साथ भी देवी के रूप में चित्रित किया है, चाहें तो इसे समाज की मान्यताओं के प्रति कलाकार की उपेक्षा या विद्रोह-भावना भी कह सकते हैं। इस उपन्यास की रचना और संगठन में कलात्मक कौशल की कमी नहीं किन्तु इसके पात्र, स्थितियाँ तथा भावनायें नितान्त अस्वाभाविक और असत्य हैं। इसमें लेखक ने अति यथार्थ का सहारा लिया है किन्तु इसका कथानक भारतीय जीवन तथा समाज का बहुत ही सीमित अंश है, इसकी चरितार्थता निकट भविष्य की सम्भावना हो सकती है। पात्रों की ऐसी हीन भावनायें अभी भारत में सामाजिक रूप से प्रसरित नहीं, वे केवल लेखक की उत्तेजनापूर्ण मानसिक चित्रावलियाँ हैं।

विलास की यह विडम्बना, ह्राइट हार्स की यह आकुलता, यौवन तथा रूप के बाजार की यह नुमायश भारतीय जीवन का सामूहिक स्वरूप नहीं, कुछ व्यक्तियों का व्यक्तिगत-विधान मात्र है। यह बात माननी पड़ेगी कि व्यक्तियों से ही समाज बनता है किन्तु गाँव का एक काना सारे गाँव के काने होने का सबूत नहीं हो सकता। यही कारण है कि स्वयं कलाकार ने इन चित्रों को बड़े ही निराश-भाव से चित्रित किया है।

'तीन वर्ष' का सारा वातावरण विलास की विकृत छाया से आच्छादित है किन्तु इसका आरम्भ और विकास बड़े आकर्षक ढंग से हुआ है, यह मानना पड़ेगा। 'तीन वर्ष की दुनिया ऐसे अमीरों तथा धनिकों की दुनिया है जो भूखी-प्यासी भारतीय जनता से शोषण के सिवाय और कोई सम्बन्ध नहीं रखती, ऐसे वर्ग का चित्रण और पीड़ित जनता की अवहेलना कला का साध्य नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे पात्र जो अपनी अतृप्ति की ज्वाला में स्वयं भस्म हो जाते हैं पाठकों को

आधुनिक

जीवन और जगत् के प्रति किसी कल्याणकारी धारणा की प्रेरणा देने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते हैं।

मनोहर कथोपकथन और वासना-जन्य रंगीन चेष्टाओं से जनता का हित नहीं हो सकता, और साहित्य का जन-हिताय होना सर्वमान्य सिद्धान्त है। अभिजात वर्ग के दर्शन तथा उसके रास-रंग के प्रदर्शन के द्वारा सामान्य जनता को भ्रम में डालना एक साहित्यिक प्रवञ्चना है। वर्मा जी ऐसे विधायक प्रतिभा के कलाकारों को अधिक उच्च उद्देशों की अवतारणा पर आरूढ़ होना चाहिये क्योंकि सामाजिक सत्य की उद्भावना ही कला की सार्थकता और सफलता है। निर्माण की गतिविधि में किसी सामूहिक लक्ष्य के बिना व्यक्तिगत प्रयास अराजकता के आकुल उद्गारों से अधिक महत्व नहीं रखते, यह निश्चित है।

सियारामशरण

संतुलन का अभाव आधुनिक साहित्य का सबसे बड़ा अभिशाप है। आज का साहित्यिक या तो इस पार ठहर सकता है या उस पार, दोनों के समन्वय की साधना उसमें नहीं है। यही कारण है कि कुछ कलाकार आदर्श की अलौकिक तन्मयता में अपने आस-पास की वास्तविक स्थिति का अध्ययन नहीं करते और कुछ यथार्थ की आकुलता में पैरों के नीचे की धरती को छोड़कर आकाश की ओर अपनी दृष्टि तक नहीं डालना चाहते। ये दोनों स्थितियाँ साहित्य के लिये अहितकर हैं क्योंकि साहित्य एक सृजन है ध्वंस नहीं और सृजन में आवेग की तीव्रता की अपेक्षा समन्वयात्मक संयम की अधिक आवश्यकता रहती है।

कथाकारों में गुप्त जी ने सामञ्जस्य की साधना का सहारा लिया है। उनके उपन्यासों में जीवन की दोहरी प्रेरणा का प्राण प्रवेग प्रवाहित होता मिलता है। एक वह जो मनुष्य की विश्वासात्मक शक्ति संचय के द्वारा जीवन की विषमता में भी एक व्यापक समता को खोज निकालती है और दूसरी वह जो यथार्थ की प्रतिष्ठा के साथ प्रयोग की नवीन सामूहिक शक्तियों का संचय करके कर्म को साकारता देती है। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के सहज सम्मेलन से उनके कथानकों का विकास होता है।

इसे हम यथार्थानुगत आदर्श भी कह सकते हैं। उन्होंने केवल यथार्थ की विषमता का चित्रण न करके सामञ्जस्य की भावना को मुखर किया है। गुप्त जी के उपन्यासों का यही केन्द्र-बिन्दु है। आधुनिकता के आग्रह के अनुसार उन्होंने कभी भावनाओं को बुद्धि के

आधुनिक

कठोर धरातल पर नहीं तौला क्योंकि अनुभूति अपनी सत्ता में जितनी सबल होती है उतनी बुद्धि नहीं हो सकती। व्यक्ति के स्वयं एक काँटा चुभने की पीड़ा की क्षणिक अनुभूति दूसरे के भाला लगने के ज्ञान से अधिक स्थायी और बोधगम्य होती है। कला में सत्य की स्थापना जीवन की अनुभूतात्मक अभिव्यक्ति से होती है, बुद्धि के बाह्य ज्ञान से नहीं। गुप्त जी ने कला की इसी गतिशील साधना का संगठन किया है।

उनके तीन उपन्यास, 'गोद', 'अन्तिम आकाँक्षा' और 'नारी' निकल चुके हैं। इनके कथानकों का विस्तार गाँवों की सीमा में ही अपना विकास पाता है, नगर-जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। बृन्दावन, जमुना का पति नागरिक जीवन की विपन्नता का प्रतीक माना जा सकता है, शेष सभी पात्र ग्रामीण और स्वभावतः भारतीय संस्कृति के सहज उपासक हैं। इस प्रकार गुप्त जी के तीनों उपन्यासों में उनके आस्थामय जीवन और सरल व्यक्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। उनके सभी पात्र अपनी सादगी और निश्छलता से जीवन्त हैं।

'गोद' का नायक शोभाराम अपने बड़े भाई को पिता तुल्य मानकर अपनी भावज की गोद भर देता है। उसकी सगाई विधवा कौशल्या की लड़की किशोरी से हो जाती है। प्रयाग के मेले में, भीड़ के बीच वह अपनी माँ से छूट जाती है और सुधार समितियों के लोग उसे माँ के पास पहुँचा देते हैं। रातभर माँ से दूर रहने की दुर्घटना के कारण उसका चरित्र समाज की दृष्टि से सन्देहजनक समझा जाता है। गुप्त जी ने बड़े कौशल के साथ यह दिखलाने की चेष्टा की है कि हिन्दू-समाज किस प्रकार प्रत्यक्ष पाप और सन्देह-जनित पाप में कुछ भेद नहीं मानता। न्याय की तुला पर भी सन्देह का लाभ अभियोगी को होता है किन्तु समाज के पास सन्देह से बढ़कर किसी को अपराधी ठहराने का दूसरा प्रमाण नहीं माना जाता।

लोकापवाद और धनलोलुपता के कारण दयाराम एक जमींदार के यहाँ दूसरी सगाई मंजूर कर लेता है किन्तु उसकी पत्नी पार्वती सहज ही स्नेहशीला और सहानुभूतिमय होने के कारण उससे बराबर असहमत रहती है, यद्यपि सामाजिक विधान के अनुसार वह पति का सक्रिय विरोध नहीं कर पाती। उधर किशोरी की भी दूसरी जगह सगाई तय हो जाती है किन्तु इस दूसरे वर की कुरूपता और दयाराम के विश्वासघात के कारण कौशल्या को बहुत बड़ा आघात लगता है और वह बीमार पड़ जाती है। दयाराम ने इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु शोभाराम का हृदय करुणा से भर जाता है और वह चुपचाप किशोरी से ब्याह कर लेता है।

कुछ दिन इधर-उधर भटकने के पश्चात् उसे भाई से क्षमा मिल जाती है। मातृ-प्रेम और करुणा के पुरस्कार का परिचय इस उपन्यास के द्वारा पाठकों को दिया गया है। इसका कथानक जितना ही सरल है उतना ही मार्मिक। दयाराम, पार्वती और शोभाराम के चरित्रों का विकास सर्वांग और सहज है। गुप्त जी का उद्देश्य समाज की उस धूर्त-नीति का उद्‌घाटन है जो अपनी अनर्गल शंका से एक कन्या के जीवन का विनाश करने में अपने को क्षम्य समझती है।

'अन्तिम आकांक्षा' में एक नौकर को नायक बनाकर गुप्त जी ने एक उपेक्षित वर्ग के प्रति बहुत ही उदार भावना का प्रदर्शन किया है। नायकत्व की परम्परागत रूढ़ि के विरुद्ध यह उनका विद्रोह उनकी अति आधुनिक चेतना का उदाहरण है।' इस उपन्यास में नौकर रामलाल का व्यक्तित्व बहुत ही उभरा हुआ और सजीव है। कथानक में शृंगार का एकान्त अभाव और करुणा तथा भावुकता की चरम अभिव्यञ्जना है। अपमानित और पदच्युत रामलाल जाते समय अपने मालिक की लड़की को जो विवाह के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित खड़ी है दो रुपये भेंट करता है। उस समय का सारा वातावरण गुप्त जी

आधुनिक

ने कण्व-आश्रम की सी महान् करुणा और ममता की आर्द्रता से स्निग्ध कर दिया है।

सहवास जनित स्नेह और संस्कृति-जनित व्यवहार का यह समन्वय गुप्त जी की हार्दिक विशालता का परिचय मात्र है। मालूम होता है कि करुणा के ऐसे ही चरमोत्कर्ष के कारण भवभूति को एकोरसः करुणएव कहना पड़ा रहा होगा। करुणा की इस उद्‌भावना के साथ उपन्यास में गुप्त जी ने सामाजिक विडम्बना पर भी प्रकाश डाला है। रामलाल ने एक डाकू को मार डाला है, इस कारण उसके हाथ का छुआ पानी भी कोई नहीं पी सकता और जब तक वह घर में रहेगा उसके स्वामी के यहाँ आई हुई बारात खाना खाने नहीं जा सकती है। (यद्यपि उस बारात में बहुत से ऐसे शोषक और हत्यारे व्यक्ति भी रहे होंगे जिनकी हत्यायें रामलाल की हत्या से भी जघन्य और अमानुषिक रही होंगी) रामलाल चुपचाप सब सहता हुआ बाहर जाने को तैयार हो जाता है क्योंकि उसे अपने मानापमान से अधिक अपने स्वामी की मान मर्यादा का ध्यान है।

'नारी' गुप्त जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसके कथानक में प्रसाद जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ सजीव हो उठी हैं—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।

वास्तव में नारी का कथानक और निर्वाह दोनों समाज के अत्यन्त गहन स्तर का उद्‌घाटन करते हैं। नायिका जमुना की समस्यायें भारतीय नारी की समस्यायें हैं। जमुना का पति वृन्दावन कलकत्ता चला जाता है और बहुत दिनों तक उसकी कुछ खोज-खबर नहीं मिलती, जमुना जीवन से उदास और अतृप्त हो उठती है। उसके जीवन का आधार उसका पुत्र हल्ली है किन्तु उससे जमुना के पति-अभाव की पूर्ति होना न तो स्वाभाविक है और न सम्भव। वह प्रणय-भावना के आवेश में

कईबार विचलित तो होती है किन्तु सामाजिक मर्यादा के निर्वाह के लिये आत्म-दमन के द्वारा संतोष लाभ कर लेती है।

अजीत जमुना से अपने घर में रहने का प्रस्ताव करता है और इसकी सुविधा के लिये वृन्दावन की मृत्यु भी जालसाजी से प्रमाणित करा देता है। जमुना की जातीय-प्रथा में दूसरा पति कर लेने की मनाही नहीं है किन्तु उसकी स्वाभाविक पतिपरायणता उसे ऐसा करने से मना करती है। अपने पति के जीवित होने का समाचार पाकर वह अजीत के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देती है। वृन्दावन आता है और अपना खेत गाँव के साहूकार मोतीलाल के हाथ बेचकर फिर लौट जाता है क्योंकि गाँव वालों से उसे यह विश्वास दिला दिया जाता है कि जमुना ने अजीत को वरण कर लिया है। जमुना का निरापराधी हृदय अतृप्ति की आकुलता से अत्यन्त उद्विग्न और चंचल हो उठता है। उसके मन में सामाजिकता की भावना और व्यक्ति की आधारभूत आकांक्षा को लेकर एक विकट संघर्ष उपस्थित होता है।

इस संघर्ष की प्रतिक्रिया स्वरूप जमुना अजीत के यहाँ रहना स्वीकार कर लेती है। जमुना की इस स्वीकृति में समाज की मर्यादा और व्यक्ति की इच्छा के उपभोग का स्वाभाविक सामञ्जस्य है क्योंकि जमुना का अजीत के प्रति आकर्षण ऐन्द्रिक न होकर कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में होता है। अजीत ने उसके पति की खोज में बड़ी संलग्नता दिखाई थी, हल्ली की भी वह काफी चिन्ता करता है। जमुना अजीत के साथ रहकर भी अपने पति को क्षण भर के लिये नहीं भुलाती, उसके आने की कामना करती रहती है।

'नारी' के पूरे कथानक में स्वाभाविकता तथा आस्तिकता की स्नेह स्निग्धता का पूरा संयोजन हुआ है। जमुना के अजीत के यहाँ रहने में वासना की खोज करना मानसिक विकृति का परिणाम होगा क्योंकि अजीत भी नारी को केवल भोग्य वस्तु समझने वाला व्यक्ति नहीं है। वह

आधुनिक

सच्चे हृदय से जमुना को उसके पति से मिला देना चाहता है। इसे हम वृन्दावन की मृत्यु को प्रमाणित कराने की हीनता की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। उसके चरित्र का विकास सहज मानवीय कमजोरियों को पार करता हुआ एक उच्च स्तर पर पहुँच जाता है। 'नारी' की विचार धारा में समाज नीति की आलोचना के साथ उसकी मर्यादा का रक्षण भी लेखक को मान्य है क्योंकि जीवन की सुचारुता तथा विकास के लिये नारी और पुरुष का विवाह-बन्धन ही सफल साबित हुआ है।

पाश्चात् देशों की नकल के आधार पर भारत में भी मुक्त प्रणय-लीला के समर्थन का फैशन चल पड़ा है किन्तु नारी के लेखक की मान्यता सांस्कृतिक और मर्यादित है। वे व्यक्ति की इच्छा के स्वतंत्र उपभोग की अपेक्षा समाज-विधान के बीच में उसकी प्रतिष्ठा के पक्षपाती हैं। जमुना इसी कारण समाज की अपेक्षा अपनी भावनाओं से अधिक संघर्ष करती है। उसमें विद्रोह की तीव्रता न होकर विश्वास की गहनता है।

इस उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण उसकी सीधी, सहज और प्रवाहमय करुण कहानी है। जमुना का जीवन हल्ली की बालोचित क्रीड़ा के साथ बहुत ही स्निग्ध गति से आगे बढ़ता है। अपने संयत हास्य और मीठी चुटकियों द्वारा गुप्त जी ने कथा में अपूर्व माधुर्य का संचार करने की कला में कमाल दिखाया है, यह निर्विवाद है। करुणा, शृंगार और वात्सल्य की त्रिवेणी से यह उपन्यास बहुत ही पवित्र और शीतल बन गया है, किन्तु चन्द्रमा में कलंक की भाँति कुछ खटकने वाली बातें भी हैं। हल्ली के खेल और मुकदमों का आधिक्य कहानी की गति में कभी कभी बाधा उपस्थित कर देता है। हल्ली के साथी हीरा का वृन्दावन के नाम लिखा पत्र उसकी अवस्था के अनुकूल नहीं पड़ता पाठक की बुद्धि इस घटना को सहज ही स्वीकार कर लेने से इंकार करती सी जान पड़ती है। कथानक के ऐसे अस्वाभाविक स्थल उसके प्रभाव को धीमा और अविश्वसनीय बना देते हैं।

जीवन के सम्बन्ध में जिस भाव की व्यञ्जना 'नारी' के अन्तिम पृष्ठों में की गई है, वह उतनी सहज नहीं जितनी गुप्त जी ने समझा है। गुप्त जी के पात्रों का चुनाव भारतीयता के जिन आधारभूत सिद्धान्तों के अनुरूप हुआ है उनका अस्तित्व आज नहीं के बराबर है, वे समाज से हटते से जा रहे हैं। "सह ले, इसे सह ले! कमजोर क्यों पड़ता है? जितना ही अधिक सह सकेगा, उतना ही तू बड़ा होगा"। इस आत्म-दमन के दर्शन से समाज के विकास और संघर्ष प्रस्फुटित नव-निर्माण में बाधा उपस्थित होती है। आत्म-निपीड़न की इस भावना का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की महानता बढ़ा सकता है किन्तु समाज के लिये इसकी व्यावहारिकता उपयोगी नहीं हो सकती है।

इन त्रुटियों के होते हुये भी गुप्त जी के उपन्यासों की अपील चिरस्थायी है। होटल और शराब तथा वासनान्वित नारी-पुरुष व्यवहार से भरे कथा-साहित्य में भारतीय ग्रामीण पात्रों की सुषमा पूर्ण एवं स्वस्थ उपस्थिति देना गुप्त जी की प्रतिभा और आत्म-निष्ठा का प्रमाण है। गजल, कव्वाली और कवारों के कोलाहल से भरे-पूरे कथा-साहित्य में साम-गान के गायक की भाँति गुप्त जी प्रतिष्ठित हैं, इसे कोई भी इंकार नहीं कर सकता है।

अपनी भावनाओं और विचार-धाराओं के प्रतिपादन का अनूठा और सशक्त ढंग गुप्त जी की अपनी अलग विशेषता है। मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले मार्मिक स्थलों की सृष्टि गुप्त जी की मनोवैज्ञानिक दक्षता का परिचय सहज ही दे जाती है। समालोचक ने ठीक ही कहा है—जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है, जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो, पर धुँआ बिलकुल नहीं है। गुप्त जी के प्रायः पात्र ऐसे ही हैं, मधुर, स्निग्ध, तरल और विरल।

अज्ञेय

अनुभूति में आस्था और ज्ञान में तर्क का आधिक्य रहता है। अनुभूति जन्य आत्मीय ज्ञान में द्विविधा के प्रादुर्भाव से ज्ञान की भी श्रेणियाँ बनीं---अनुभूत ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान अर्थात् विज्ञान। यही कारण है कि विज्ञान से हार्दिक भावना को तृप्ति नहीं मिलती उससे केवल हमारी बौद्धिक जिज्ञासा को विश्राम मिलता है। स्वाभाविक भी यही है क्योंकि विज्ञान में अनुभव की अपेक्षा अन्वेषण का आग्रह अधिक रहता है।

वस्तुतः विज्ञान की उपज मनुष्य के आरम्भ-काल के बहुत बाद में हुई, इसलिये यह जीवन की आन्तरिक आवश्यकता से दूर और बाह्य व्यवस्था के निकट पड़ता है। ज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में साहित्य है और अन्तिम अवस्था में विज्ञान। कुछ लोगों की धारणा है कि नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों के साथ ही साथ जीवन में कुछ नवीन स्थायी-वृत्तियों का भी आविर्भाव हुआ है किन्तु यह भ्रम मात्र है। जीवन की प्रवृत्तियाँ वही पुरानी हैं उनका अनुभव केवल नया होता है। आकाश में उड़ते हुये हवाई जहाज से गिर कर मरने का अनुभव वैज्ञानिक खोज की नवीन उद्भावना नहीं, किसी ऊँचाई से गिरकर मरने के बहुत पुराने अनुभव का ही प्रतिरूप है। इसी प्रकार भावों की नवीनता वास्तव में नवीनता नहीं वरन् उनकी विविधता की सूचना मात्र है। वैज्ञानिक सभ्यता के विकास ने जीवन के लिये नये-नये अनुभवों का एक व्यापक क्षेत्र उपस्थित किया है किन्तु उसने जीवन की मूलगत भावनाओं का नवीन निर्माण नहीं किया। आगे भी किसी स्थायी-भाव के नवीन आविष्कार की सम्भावना नहीं है। अतएव विज्ञान को साहित्य बनने के लिये कल्पना, भावना, चिंतना

और रहस्य को भी अपनाना पड़ता है, बुद्धि-व्यापार के साथ अनुभव की आत्मीयता का भी आधार ग्रहण करना पड़ता है। साहित्य में मनोविज्ञान की अवतारणा का यही ध्येय है।

प्लेटो ने एक जगह कहा है कि इन तमाम राजनीतिक समस्याओं के पीछे मानवीय प्रकृति का रहस्य निहित है, राजनीति को समझने के लिये हमें मानव-मनोविज्ञान को समझना चाहिये किन्तु मैं तो समझता हूँ कि केवल राजनीति को समझने के ही लिये नहीं वरन् जीवन की किसी भी परिस्थिति अथवा धारणा को समझने के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है। साहित्य-सृजन भी इसकी अपेक्षा रखता है। सर्वहिताय होना साहित्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है। अपने को विश्व के साथ एकाकार करना और समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिफलित करना ही साहित्य का साध्य है। 'एकोऽहं बहुस्यामि' की यही मूल चेतना है। साहित्य में मनोविज्ञान इसी अभेद तथ्य तक पहुँचाने का बौद्धिक साधन है क्योंकि सभी ज्ञान अपने चरम विकास में एक हो जाते हैं।

इच्छा, भाव और ज्ञान के संश्लेषण से ही कर्म की प्रेरणा मिलती है, इसमें सन्देह नहीं। कर्म की प्रेरणा वैयक्तिक अधिक होती है सामूहिक कम। वस्तुतः साहित्य की पयस्विनी धारा के आंतरिक आधार से फूट कर देश, काल और पात्र की अनुकूल परिस्थितियों के बीहड़ वन-पथ से प्रवाहित होती हुई सामूहिक समरसता के महासागर की ओर उन्मुख होती जाती है। उसमें गति और वेग की आकुलता आवश्यक है, विभेद से प्रारम्भ होकर अभेद में उसका अन्त भी अनिवार्य है।

ज्ञान, चाहे भावगम्य हो चाहे बुद्धिगम्य वह अपने-आप में सीमित होता है। भाव अथवा बुद्धि की एकात्मक अहमन्यता उसे और भी संकुचित कर देती है। भ्रम की वास्तविक उलझन इसी अहंकार जनित अहं-भावना में पाई जाती है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय

आधुनिक

ने इसी अहं-भावना के विश्लेषण की अपनी कृतियों में चेष्टा की है, व्यक्ति के माध्यम से विश्व को चीन्हने पहचानने का प्रयास किया है। जैनेन्द्र ने समष्टि-कल्याण की त्यागमयी बलिवेदी पर खड़े होकर अहं के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की है। जोशी ने 'सन्यासी' में तटस्थ और विवेकशील दृष्टि से उसका विश्लेषण किया है, अहं के विस्तार का यथातथ्य चित्रण किया है। अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' में अहं की महानता का बड़ी सतर्कता के साथ समर्थन किया है। शेखर और सन्यासी (नन्दकिशोर) दोनों घोर अहंवादी व्यक्ति हैं, अज्ञेय और जोशी ने अपने-अपने ढंग से इनका विकास-चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों कथा नायक मनोवैज्ञानिक हैं।

आत्म-बोध, समष्टि-बोध का आदि है किन्तु उसमें अनुभूति और बुद्धि दोनों की अपेक्षा रहती है। शेखर ज्ञानशील (बौद्धिक) और नन्दकिशोर अनुभूति शील है। अनुभव के मूल्य से प्राप्त विचार अधिक प्रसादमय तथा प्राणमय होते हैं और बुद्धि-प्राप्त विचार अधिक अन्वयात्मक, अस्पष्ट और विभेदमय होते हैं। शेखर और नन्दकिशोर की यही अन्तर-रेखा है। अधिक स्पष्टता से इसे यों भी कहा जा सकता है कि जो अन्तर एक विद्वान और एक द्रष्टा में होता है वही शेखर और सन्यासी में है। वास्तव में बुद्धि-प्रयोग द्वारा अनुभूति की सचाई तक पहुँचना सहज नहीं होता, अज्ञेय को भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा है।

शेखर के विकास में विद्या, बुद्धि तथा अध्ययन की कमी नहीं, प्रायः संसार भर के विचारकों, दार्शनिकों और विद्वानों के मत से उसका परिचय है किन्तु आत्मानुभूत सत्यों का उसमें अभाव है। जोशी ने नन्दकिशोर के निर्माण में अध्ययन और अनुभव दोनों का सहारा लिया है। प्रायः प्रत्येक युग में नवीन पीढ़ी के बीच से कुछ ऐसे

व्यक्तियों का विकास होता है जो अनुभव और चिंतन की अपेक्षा अध्ययन के बल पर संसार का सारा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते हैं। इस प्रकार के अध्ययन में अन्तरानुभूति की जगह केवल सूचना प्राप्ति की सम्भावना अधिक रहती है किन्तु सूचनायें तो सत्य तक पहुँचने की सीढ़ियाँ मात्र हैं स्वयं सत्य नहीं। अध्ययन का ऐसा स्वभाव कलाकार को मनन का अवकाश नहीं देता है और वह जीवन विषयक किसी निश्चित उद्देश्य की कल्पना नहीं कर पाता, परिस्थितियों से प्रभावित इधर-उधर भटकता फिरता है। शेखर कुछ ऐसा ही है। परोपर्जानी तथा किताबी ज्ञान जब जीवन की स्वाभाविक गतिशीलता में बाधा उपस्थित करता है तब कलाकार उसे सुन्दर शब्द-विन्यासों, वर्णनों और भाषणों से आगे ढकेलने का प्रयत्न करता है। शेखर का असम्बद्ध कथानक इसका स्वयं साक्षी है। विचारों, भावों तथा सिद्धांतों की मौलिक प्रतिपादना कलाकार की प्रतिभा का प्रमाण है और विश्वज्ञान का संकलन उसकी कलात्मक शिथिलता का समारोह। कलाकार की रत्ती भर मौलिक शक्ति दूसरों की तोले भर शक्ति के बराबर होती है।

वास्तव में अध्ययन, भावन के लिये उतना ही महत्व रखता है जितना भ्रमण के लिये छड़ी। इससे अधिक वह व्यक्ति को अस्थिर बना देता है। रचनात्मक कार्यों के लिये अध्ययन के साथ मनन भी आवश्यक है। विशेषकर कथाकार का काम संसार के महान विचारों घटनाओं एवं दृश्यों का संकलन नहीं वरन् आत्मानुभूत जीवन की मार्मिकता का उद्घाटन है। कला और इतिहास में यही अन्तर होता है। उत्तम कोटि की कथा-कृति वही है जो जीवन की बाह्य रूप-रेखा की अपेक्षा उसके आन्तरिक स्तरों का स्पष्टीकरण करती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तो यही उपयोगिता है। ऐसे उपन्यासों की सारी घटनायें किसी न किसी आन्तरिक रहस्यपूर्ण भाव अथवा विचार की सत्य स्थापना के ही लिये घटित होती हैं किसी वैचित्र्य या कौतुक

आधुनिक

के लिये नहीं। उपन्यास की घटनाओं और कथानक के विकास में एक सुसंगति और सामञ्जस्य का होना भी नितान्त आवश्यक है। तो क्या इस दृष्टिकोण से 'शेखर एक जीवनी' को उपन्यास कहा जा सकता है? कहानी, उपन्यास का शरीर और मानव-चरित्र-चित्रण उसकी आत्मा है; किन्तु शेखर में कहानी का एकान्त अभाव है। बिखरी-बिखरी, उँखड़ी-उँखड़ी असम्बद्धित शृंखलाओं से उसे जोड़ने-तगोड़ने का प्रयत्न किया गया है।

शेखर का साधारण पाठक उसके कथानक को कभी नहीं समझ सकता। समय, संगति और स्वभाव की संयोजना, जिसके आधार पर पाठक कथानक के विकास के साथ आगे बढ़ता है शेखर में नहीं के बराबर है। सम्भवतः इसी कारण लेखक को पुष्प-चिह्नित अनेक विराम-स्थल खोजने पड़े हैं। कहने का आशय यह कि शेखर का कथा भाग बहुत ही कमजोर और विशृंखलित है। कथाकार जीवन की किसी घटना को, भाव को, सत्य को तथा सिद्धान्त को मनन करता है, अनुभव करता है, प्रभावित होता है और तब कलात्मकता के साथ नियोजित करके उसे अभिव्यक्त करता है। उसमें एक प्रकार का क्रम-विकास और कार्य-व्यापार का समन्वय उसके अस्तित्व और स्वाभाविकता का संरक्षक होता है। कथानक का लँगड़ापन उपन्यास की सबसे बड़ी विडम्बना है।

मनोवैज्ञानिक कथानकों में इस प्रकार की भूलों की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि मन के भावों का संकल्पात्मक प्रवाह कठिन होता है। ऐसी कला में चिंतन की जितनी अपेक्षा रहती है, आज के कलाकार को उतनी फुरसत नहीं और अभावमय जीवन की प्रतिक्रिया में भाव कभी विचार की श्रेणी में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। कला-प्राण व्यक्ति अपने को दूसरे में खोना भी नहीं चाहता अतएव वह जीवन सम्बन्धी

खन्ड-भावना में भटकने लगता है। शेखर के खन्डात्मक कथानक का यही रहस्य है।

शेखर के चरित्र-चित्रण पर भी विचार करना आवश्यक है। शेखर एक अहंवादपूर्ण व्यक्ति का विकास है। बहुत लड़कपन से ही उसमें हम एक विशेष प्रकार की अहंकारपूर्ण चेतना का आभास पाते हैं। होनहार बालकों में अहं का उदय होता भी जल्दी है, शेखर इसका अपवाद नहीं। वास्तव में संसार के सारे ज्ञान का आधार व्यक्ति का अहं ही होता है क्योंकि वह व्यक्तित्व के निर्माणकारी उपादानों का संग्रह करता चलता है। इस दृष्टि से अहं की प्रधानता बुरी नहीं किन्तु उसकी विकृति का परिणाम भी बहुत भयंकर होता है। मनुष्य का ज्ञान अपने सम्बन्ध में बहुत कम है। वह अपनी ही अन्तर्प्रेरणाओं के समझने में असमर्थ है। कभी-कभी जिस कार्य को एक व्यक्ति अपना हित-साधक समझता है उससे उसकी हानि ही होती है वस्तुतः व्यक्तिगत हित-साधन से ऊपर उठना ही व्यक्ति का वास्तविक हित-साधन है। विकृत अहं-ज्ञान में व्यक्ति इसे नहीं समझ पाता, यह स्मरण रखना होगा। यही कारण है कि केवल निजत्व की पूर्ति के लिये जीवन का अनुसरण करता हुआ व्यक्ति कभी महान् नहीं हो पाया, इतिहास इसका साक्षी है।

सम्पूर्ण सृष्टि का प्रत्येक अंश अपने में एक ऐसा आकर्षण रखता है जो मानव-मन को अपनी ओर बराबर खींचता रहता है। जब तक व्यक्ति को अपने से अनुराग है तब तक ही वह संसार से अनुरक्त रह सकता है, इसमें सन्देह नहीं। जीवन और प्रकृति की रहस्यमयता सदा की भाँति ही चारों ओर बिखरी है किन्तु कलाकार उसका उद्घाटन नहीं करता, प्रत्युत अपने हृदय की उन वृत्तियों का स्पष्टीकरण करता है जो उस वातावरण के फलस्वरूप उसके मन में उदय होती हैं। सत्य का यही नवीन तत्व जीवन के साथ शाश्वत है। अहं का उचित

आधुनिक

उपयोग इसी सत्य की स्थापना है। समाज में व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की भाँति ही साहित्य में कलाकार के अहंभाव की प्रतिष्ठा कई प्रतिबन्धों के बीच में होती है। कोई भी कला-विधान इस संयम का उल्लंघन नहीं कर सकता। जो जाति जीवन को जिस रूप में देखती है वह उसी ढंग के साहित्य का निर्माण करती है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय साहित्य में विराटता की अपेक्षा महानता का आग्रह अधिक पाया जाता है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से शेखर उतना महान् नहीं जितना विराट है।

अज्ञेय की अन्य अनेक कहानियों का विदेशी वातावरण शेखर की भी प्राण-स्फूर्ति में स्पन्दित है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि लेखक का बुद्धि-प्राप्त ज्ञान अभी भाव की सीमा में प्रवेश नहीं कर पाया। बुद्धि-ग्राह्य विषय को भाव-रूप प्राप्त करने में बहुत समय लगता है। मुसलमान काल की सभ्यता से निर्लिप्त रामचरितमानस का सृजन इस तर्क की पुष्टि का प्रमाण है। अँग्रेजी सभ्यता के प्रभाव से दिन प्रतिदिन क्षीण और अस्पष्ट होती हुई भी भारतीय संस्कृति सभ्यता साहित्य में अपने को सुरक्षित रखेगी, यह मेरा विश्वास है। प्रत्येक विषय में मनुष्य केवल अपने विवेक से उत्थित विचार प्रकट नहीं करता, संस्कार, संस्कृति और स्वदेशीय परम्परा का भी सहयोग लेता है। अपनी संस्कृति और परीक्षित परम्परा की रूढ़ि से ऊबने वाले केवल अग्रगतिगामी व्यक्तियों को स्मरण रखना चाहिये कि साहित्य की यही रूढ़ि-प्रियता उसके आधुनिक स्वरूप को भूत से एकदम विच्छिन्न नहीं होने देती। साहित्यगत जीवन में भूत और वर्तमान का विच्छेद नहीं होता, बल्कि उसमें भविष्य का भी आभास रहता है।

शेखर के विकास में पूर्वापर सम्बन्ध का पता नहीं चलता। कभी कभी ऐसा अवश्य लगता है कि किसी भूली हुई वस्तु को लेने के

लिये बहुत दूर बढ़कर वह फिर वापस आता है और तब आगे बढ़ता है। यह उसके विचारों की अप्रौढ़ता का प्रमाण है। साहित्यक कृतियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—एक किसी विषय की विवेचना के लिये और दूसरी केवल कुछ लिखने के लिये। शेखर के अनेक अवतरण शायद केवल लिखने के लिये लिखे गये हैं जिनसे पाठकों को लेखक की विधायक प्रतिभा का नहीं उसके अध्ययन की बहुलता का पता चलता है। लेखकों की भी कई श्रेणियाँ होती हैं—कुछ लोग अपने अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को शीघ्र से शीघ्र शब्दों में बाँध लेना चाहते हैं, कुछ लोग लिखने के साथ ही चिंतन का भी समावेश अपनी कृतियों में करते चलते हैं और कुछ लोग लिखने के पहले अपने विषय का पूर्ण मनन कर लेते हैं। शेखर का स्रष्टा दूसरी श्रेणी का लेखक है। इस प्रकार की रचना में किसी सिद्धान्त विशेष की अमान्यता आवश्यक सी हो जाती है क्योंकि रचनाकार अपनी भ्रान्त धारणाओं के सहारे भी मौलिकता का लोभ नहीं सँभाल सकता।

शापनहावर ने एक जगह लिखा है कि ऐसा लिखना जिसे कोई न समझे सब से सहज होता है, किन्तु शेखर को तो शायद स्वयं लेखक ने भी नहीं समझा। कहने का आशय यह कि शेखर के विकास का पता लेखक को भी उसके सम्पूर्ण निर्माण ही के बाद चला होगा अन्यथा वह उसकी अहमन्यता तथा असाधारणता को इस प्रकार बढ़ने ही क्यों देता? साहित्य का सत्य कभी साधारण अथवा असाधारण नहीं होता, उसमें सामान्यता की सहज अभिव्यक्ति रहती है। यह तो मानी हुई बात है कि मनोवैज्ञानिक चरित्रों के निर्माण की खूबी उनकी असाधारण परिस्थितियों के ही विश्लेषण में संभव होती है किन्तु उनके जीवन के फल स्वरूप उद्भूत सत्य स्वयं कभी असाधारण नहीं होते। फिर शेखर के अध्ययन से, उसकी विकृतियों के सम्मानपूर्ण विश्लेषण से पाठकों को किस सहज सामान्य सत्य का बोध होता है? साहित्य में सहज,

आधुनिक

स्वाभाविक और सामान्य का ही महत्व होता है कठिन, अस्वाभाविक और असामान्य का नहीं। संसार के सभी प्रतिभावान लेखकों ने अपने विचारों को सदैव स्पष्टतया निस्संकोच भाव से और थोड़े ही शब्दों में व्यक्त किया है। शेखर में उद्धृत अनेक विद्वानों के अवतरण उदाहरण के लिये परियाप्त हैं। वास्तव में सहज अभिव्यक्ति सत्य की प्रधान शक्ति है।

कलाकार के रोम-रोम में उसके अनुभूत सत्य की आत्मा व्याप्त रहती है। इसीलिये उसकी अभिव्यक्ति दूसरों के लिये उपयोगी और प्रिय साबित होती है। इसके विपरीत जब कलाकार दूसरों के अनुभवों को समेट कर उनकी अभिव्यक्ति करना चाहता है तब वह कला न होकर उसकी कथरी के रूप में सामने आती है। उसके अलग अलग टुकड़े रंगीन, कीमती और आकर्षक भी हो सकते हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'निमंत्रण' और अज्ञेय का 'शेखर' औपन्यासिक कथरी के अन्यतम उदाहरण हैं, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि अज्ञेय, वाजपेयी से अधिक प्रतिभा-सम्पन्न और अध्ययनशील हैं। किन्तु दोनों की कृतियों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे उस विषय के जानकर बनने का भ्रम उत्पन्न करना चाहते हैं जिसे वे नहीं जानते, अपने को उस विषय का विचारक साबित करना चाहते हैं जिसके बारे में उन्होंने कभी कुछ नहीं सोचा और स्वभावतः कुछ ऐसा कह जाते हैं जो कभी नहीं कहना चाहते थे। दूसरों के लिये फैलाये गये जाल में जैसे स्वयं फँस गये हों। इसका एकमात्र कारण यह है कि इन दोनों लेखकों ने आत्मानुभूत जीवन और सत्य के प्रति अपना उतना आकर्षण नहीं दिखलाया जितना उसकी सामयिक तथा आन्दोलित विविधता के प्रति दिखाया है।

साहित्यकार के लिये इस तथ्य का ज्ञान लेना आवश्यक है कि विचार मस्तिष्क से कागज में आसानी से उतर सकता है किन्तु कागज

(पुस्तक) से मस्तिष्क में पहुँचना बहुत कठिन होता है। यही कारण है कि साहित्य-सृजक के लिये विश्व-ज्ञान के अध्ययन की उतनी अपेक्षा नहीं जितनी जीवन के अनुभव और विचारों के संचरण की होती है। कलात्मक सृष्टि से हम शक्ति ग्रहण करते हैं, ज्ञानोपार्जन नहीं करते क्योंकि शक्ति से जीवन का स्तर ऊपर उठता है और ज्ञान से आगे बढ़ता है। कलाकार संसार को देखकर जीवन का अनुमान नहीं करता वरन् जीवन के आधार पर संसार का अनुमान करता है। सम्भवतः इसीलिये वह कभी बाहर की माँग को पूरा करने के लिये अपने आन्तरिक अनुभव की उपेक्षा नहीं करता। यह कौन नहीं जानता कि संसार की घटनायें समय-सापेक्ष होती हैं किन्तु उन घटनाओं का सत्य सनातन होता है। सन् १९४२ के अगस्त की घटना अब पुरानी हो चुकी पर उसके भीतर का सत्य भारतीय-जीवन के साथ एक शाश्वत सत्य है। सम्भवतः इसीलिये उपन्यासकार घटनाओं का नहीं उनके अस्तित्व के सत्य का निरूपण करता है। तभी तो घटनायें काल्पनिक होकर भी जीवन के आधारभूत सत्य का उद्घाटन करने में समर्थ होती हैं।

शेखर एक जीवनी की भूमिका का पहला वाक्य है—वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है। यह ठीक है किन्तु यातना की वास्तविकता और उसकी भयभीत कल्पना में अन्तर है। शेखर, यातना में नहीं वरन् उसके 'विज़न' में ग्रस्त है। फाँसी की कठोर कल्पना उसके आँखों में नाच रही है और वह इसी काल्पनिक भय की भावना से व्याकुल होकर अपने जीवन की गतिविधि का खुलासा पाठकों के सामने रखना चाहता है, अपने अतीत जीवन को दुबारा जीना चाहता है। स्वभावतः उसे फूलों की अपेक्षा अनखिली कलियाँ तोड़ना ही अच्छा लगता है। अपनी भावनाओं के इस आन्दोलन में वह हवा के झोंके में पड़े हुये सूखे पत्त की भाँति इधर-उधर भटकता-उड़ता फिरता है। पर यह भी जानता है कि

आधुनिक

'उसके जीवन की सत्यता क्या है ? वायु में उड़ती हुई धूल पर खिंची रेखा, और बस'।

शेखर के निर्माण में लेखक ने रोमाँ रोलाँ के उपन्यास 'जाँनक्रस्टाफर' को भी सम्भवतः सामने रखा है पर शेखर और जाँनक्रस्टाफर में वही अन्तर है जो रोमाँरोलाँ और अज्ञेय में है। जो भी हो शेखर, उपन्यासों की एक नई दिशा की सूचना अवश्य देता है। एक व्यक्ति की सम्भाव्य शक्तियों और इच्छाओं का उसमें निर्भीक और सहानुभूतिमय संगठन है। अपने जीवन-विकास के स्वनिर्मित पथ का अनुसरण करता हुआ शेखर पाठकों को ज्ञान के अनेक गूढ़ अस्तरों का दिग्दर्शन कराता चलता है और लेखक 'उसके जीवन के सत्यों को पढ़कर, उनका निष्कर्ष निकालकर उन्हें शब्द-बद्ध' करने में सफल हुआ है।

एक बात और। शेखर की भाषा हिन्दी-अँग्रेजी की एक अजीब खिचड़ी है, हिन्दी का पाठक उसके आस्वादन से वंचित सा रह जाता है। सारे उपन्यास की शैली बहुत कृत्रिम और आत्म-विज्ञापन से बोझिल है। यही कारण है कि इतने सुन्दर साधनों के होते हुये भी उपन्यास की सिद्धि से न तो पाठकों को सन्तोष होता न स्वयं लेखक को। अन्त में यह बता देना भी आवश्यक है कि शेखर की जीवनी को लेखक की जीवनी समझने का भ्रम पाठकों को कभी नहीं हो सकता क्योंकि वह निश्चित रूप से जानता है कि शेखर का विकास, लेखक की कृपा का उतना आभारी नहीं जितना स्वयं अपनी अहंभावपूर्ण आशंकित प्रगति का। इसी से शेखर की तरह व्यक्ति-प्रधान सत्ता सामूहिक कल्याण का कारण नहीं बन सकती।

यशपाल

हिन्दी-साहित्य में जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा का साहित्य अपेक्षाकृत कम है। इसका कारण यहाँ के साहित्यकों की राजनीतिक उदासी है। 'कोउ नृप होय हमें का हानी' का पुराना सिद्धान्त अभी तक लोगों में अपनी चरितार्थता पाता जा रहा है। दासमलूका का दाता राम के प्रति अटल विश्वास हम पर अब भी अपना प्रभाव रखता है।

इधर कुछ वर्षों से साहित्यकों का ध्यान जीवन की मौलिक प्रवृत्तियों और उनके आधार की ओर उन्मुख हुआ है, स्वभावतः राजनीतिक साहित्य का भी सृजन होने लगा है। साहित्य के मूल सिद्धान्तों का सम्बन्ध मानव-जीवन के निर्माणकारी तत्वों से है जिनमें राजनीति भी एक है। कॉंग्रेस का इतिहास ऐसे साहित्य का शुभ श्री गणेश कहा जा सकता है।

जीवन क्या है, इस विषय पर विवेचना तो बहुत हुई है पर इसके विषय में कोई निश्चित और सर्वमान्य विचार अब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सका। यदि जीवन और उसका उद्देश्य ठीक तरह से समझ लिया जाय तो उसकी गतिविधि का क्रम-विकास और उसके नव-निर्माण का दिशा-ज्ञान सहज ही में बोधगम्य हो सकता है। मानव-जीवन एक साथ ही व्यक्तिगत और सामाजिक, सामान्य और विशेष भी है क्योंकि उसकी मूल निम्नवृत्तियाँ और चेष्टायें प्रायः सब में समान रूप से परिव्याप्त हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपना एक अलग निजत्व और व्यक्तित्व भी रखता है। साहित्यकार, वैयक्तिक विचारधारा के माध्यम से मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का निरीक्षण तथा परीक्षण करता है।

आधुनिक

समाज, मानव का बौद्धिक निर्माण है अतएव उसका बहिर्मुखी होना अनिवार्य है। मनुष्य की इन्द्रियों का निर्माण भी बहिर्मुखी है, स्वभावतः वे अन्तरात्मा की अपेक्षा सांसारिक विषयों की ओर अधिक आकर्षित रहती हैं। मनुष्य के इस स्वाभाविक निर्माण के प्रतिकूल एकदम अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की उद्भावना जीवन के यथार्थ से मुँह फेरना है। यही कारण है कि अनुभवी जीवन-द्रष्टाओं ने जीवन के पुरुषार्थ और सफलता के चार अंग अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष बताये हैं। इनमें से किसी एक की उपेक्षा जीवन की पूर्णता में व्याघात पहुँचाती है। इस दृष्टिकोण से मानव-जीवन के स्पष्ट दो प्रधान उद्देश्य हुये—विषयानन्द और ब्रह्मानन्द। भारतीय साहित्य ने जीवन की परिस्थितियों के अनुसार ब्रह्मानन्द पर ही अधिक जोर दिया है।

युगों की गुलामी और अर्थ-पीड़न की विवशता स्वरूप भारतेन्दु ने साहित्य में प्रथमबार राजनीतिक (राष्ट्रीय) कविताओं के सृजन द्वारा जीवन की अर्थमूलक प्रवृत्तियों की साहित्य में प्रतिष्ठा की, इस विषय में वे प्रथम राजनीतिक लेखक कहे जा सकते हैं। उनके बाद काव्य की यह धारा कभी क्षीण और कभी प्रबल वेग के साथ सतत् प्रवाहित होती चली आ रही है। गद्य-युग के आविर्भाव के साथ प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' नामक प्रथम राजनीतिक उपन्यास लिखा, जिसमें तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का विषद चित्रण पाया जाता है। प्रेमचन्द के समय से आज के विश्व और भारत का राजनीतिक वातावरण परिवर्तित होकर बहुत आगे बढ़ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि देश के स्वाधीनता-संग्राम का जैसा उत्साहपूर्ण और सक्रिय रूप हमें 'कर्मभूमि' और 'भग्नयात्रा' में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं किन्तु आज की स्थिति कुछ दूसरी ही है।

विश्व-जीवन की विषमता और राष्ट्रीय-जीवन की दरिद्रता के फल स्वरूप आज का भारत संसार के शोषितवर्गों के साथ अपनी रक्षा का उपाय, समाजवाद की सामूहिक और समतामयी भावधारा में खोज

रहा है। ठीक भी है, आज भारत को अमरकान्त और सलीम को ही एकता के अटूट सूत्र में बाँधने की आवश्यकता नहीं है, वरन् वह संसार के उन सभी असंख्य शोषित और उपेक्षित मानव-कंकालों को एक में समेटना चाहता है जिनका अगुवा सोवियत रूस है। आज सोवियत रूस की जन-संगठन-शक्ति ने संसार को आश्चर्य चकित कर दिया है। सभी उसकी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की ओर आकर्षित हैं और संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक समाजवाद की लहर लहरा रही है। भारत अपनी राजनीतिक स्थिति के अनुकूल इस व्यवस्था के लिये परम उपयुक्त और चरम उत्सुक है। साहित्य में भी इस विचारधारा का आग्रह बढ़ता जा रहा है। यशपाल का कथा-साहित्य इसी ओर का असफल प्रयास है। 'दादा कामरेड' की असफलता को उनका प्रथम प्रयास कहकर टाल सा दिया गया था किन्तु 'देशद्रोही' में वे और भी अधिक असफल हैं। रचना कौशल और रोचकता में देशद्रोही 'दादाकामरेड' से अवश्य ही अधिक सफल हैं किन्तु सफल राजनीतिक उपन्यास होने की विफलता ज्यों की त्यों बनी रह गई है।

जहाँ तक उद्देश्य और भाव-धारा का सम्बन्ध है, देशद्रोही से किसी का मतभेद सम्भव नहीं किन्तु उसकी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ और चरित्र-विकास की विडम्बनायें बड़े उभार के साथ पाठकों के सामने आ डटती हैं, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। परिचय में लेखक ने लिखा है—'लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमियों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने में ही है। समाज के अस्तित्व से भिन्न लेखक की कल्पना कर सकना सम्भव नहीं। उसकी कला या प्रयत्न समाज की अनुभूति या आदर्श हैं।......वह श्रेणी संघर्ष और राष्ट्रों के संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। साहित्य का कलाकार केवल चारण बन सौन्दर्य, पौरुष और तृप्ति की महिमा गाता रहकर ही अपने सामाजिक कर्तव्य को पूरा नहीं कर सकता। विकास और

आधुनिक

पूर्णता के सामाजिक प्रयत्न की इच्छा और उत्साह उत्पन्न करना, उस उत्साह को विवेक और विश्लेषण की प्रवृत्ति द्वारा सजग और सचेत रखने की भावना जगाना, साहित्य के कलाकार का काम है। अगले पृष्ठों में अपनी इसी धारणा को लेखक के कर्तव्य और अधिकार की दृष्टि से निबाहने का प्रयत्न किया है'। वास्तव में इस कर्तव्य के निर्वाह का साहित्य किसी भी देश के गौरव का प्रतीक है किन्तु लेखक स्वयं अपने साहित्य का निर्वाह अपने मापदण्ड के अनुसार नहीं कर सका। 'देशद्रोही' को पढ़कर साहित्य के उपर्युक्त उद्देश्य की सुचारुता की अपेक्षा उसकी विरूपता का ही आभास मिलता है।

उपन्यास की प्रारम्भिक 'अजानी अंधेरी राह' में फौजी डाक्टर खन्ना को कुछ वजीरी न जाने क्यों पकड़े लिये जा रहे हैं, दूसरे चैप्टर 'समय का प्रवाह' में पाठकों को खन्ना के विद्यार्थी जीवन और दिल्ली के उस वातावरण का परिचय दिया गया है, जिसमें डा० खन्ना का पालन-पोषण एवं वर्द्धन हुआ है। उस जीवन का सार रूप यह है कि डा० खन्ना का साथी शिवनाथ उसके साथ बम बनाने के अपराध में पकड़ा गया और खन्ना चुपचाप अपनी डाक्टरी परीक्षा की तैयारी करता रहा।

शिवनाथ अपनी अकेली बहिन जमुना को जेल के बाहर छोड़ गया था। शिवनाथ, जेल से छूटने के पश्चात् आतंक की अपेक्षा कांग्रेस की नीति स्वीकार करके कांग्रेस-सोशलिस्ट बन जाता है। बद्रीबाबू, एक सच्चे और कर्मनिष्ठ कांग्रेसी उसके सहयोगी-साथी हैं। बद्रीबाबू और शिवनाथ को लेकर लेखक ने कांग्रेस की नीति तथा व्यवस्था पर अपना मन्तव्य ज़ाहिर किया है, जिसमें कांग्रेस की व्यवस्था का उपहासास्पद एवं बहुत ही विद्वेष-व्यंग पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। शिवनाथ के शब्दों में लेखक की धारणा इस प्रकार है—"कांग्रेस के भीतर संगठित होकर वैधानिक उपायों द्वारा उसे समाजवादी शक्ति बना सकने का स्वप्न व्यर्थ है। श्रेणी संघर्ष की चेतना शोषित वर्ग में उतनी अधिक

जाग्रत नहीं, जितनी कि शोषक वर्ग और उनके सहायकों में हो रही है। कारण यह है कि वे शिक्षित है और साधन सम्पन्न। कांग्रेस की जनमत से समाजवादी शक्ति बनाने के प्रयत्न कांग्रेस के विधान के अनुसार अवैधानिक बनते जा रहे हैं। जनमत पैदा करने के साधन सब पूँजीपतियों के हाथ में हैं। वे शोषित जनता के 'हायतोबा' कहने को संकीर्णता, स्वार्थ और श्रेणी-हिंसा कहते हैं और अपनी श्रेणी के अधिकार बढ़ाने के आन्दोलन को 'हायदेश' कह उसे त्याग बताते हैं। यदि कांग्रेस आन्दोलन में सहयोग दे पाने की शर्त ईश्वर में विश्वास होना हो सकती है तो फिर जनता को मूर्ख बनाया जा सकने की कोई सीमा नहीं"।

शिवनाथ का यह आक्षेप लेखक के विचारों की छाया मात्र है। जब व्यक्ति नीति और सिद्धान्तों को छोड़कर अपने पक्ष का पक्षपात पूर्ण प्रतिपादन करने लगता है तब दूसरे पक्ष के प्रति उसकी कटुता इसी प्रकार बढ़ जाती है। यशपाल को केवल इतने ही से सन्तोष नहीं हुआ अतएव उन्होंने कांग्रेस के वास्तविक विधायकों बद्रीबाबू के चरित्र की जो चरम परिणति दिखलाई है वह स्वाभाविक और सहज न होकर प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित सी जान पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं कि कोई भी सिद्धान्त व्यक्ति के ही माध्यम से अपनी साकारता पाता है किन्तु व्यक्ति की अपनी हीनता कभी सिद्धान्त को कलंकित नहीं कर पाती अन्यथा डा० खन्ना का समाजवाद संसार के लिये भयावह हो उठता।

डा० खन्ना कैद से मुक्ति पाने के लिये अपने भाई को रुपया भेजने का पत्र लिखता है पर न रुपया आता न पत्र का उत्तर। डा० उदास और खिन्न सा रहने लगता है। दो चार पठान सुन्दरियाँ जैसे उसकी उदासी को दूर करने के लिये उसकी ओर आकर्षित होती हैं और वह स्वयं उनके रंग में रँग सा जाता है, शायद गम गलत करने के लिये? गम

आधुनिक

में रोमाँस की लालसा और पठानों की भय के संघर्ष ने डा० खन्ना की हालत बहुत ही खराब कर दी, न वह खुलकर अपनी प्रेमिकाओं का स्वागत ही कर सकता था और न उनसे एकदम विरक्त ही होने की उसमें क्षमता थी। सुन्दरियों के उस पर पुरुषत्व-हीनता के आक्षेप भी बराबर होते जाते थे, जिन्हें चुपचाप सुनने की अपेक्षा उसके पास और कोई चारा न था। ईद के दिन डा० को कलमा पढ़ाकर मुसलमान बना दिया गया और गजनी में पोस्तीनों के व्यापारी अब्दुल्ला के हाथ वह निराश प्रेमी बेच भी दिया गया। अब्दुल्ला के आवारे लड़के नासिर से उसकी दोस्ती हुई और कुछ दिनों में डा० उसका बहनोई भी बन गया।

उधर दिल्ली में डा० खन्ना की धर्मपत्नी राज ने बद्रीनाथ की सहायता से सार्वजनिक जीवन का व्रत लिया और उन्हीं के साथ रहने तथा काम करने लगी। गजनी में डा० खन्ना नर्गिस की हंस की ग्रीवा के समान कोमल बाँहों में आबद्ध हो गया और उसकी कल्पना की दूरगामी उड़ान, बाँहों में सिमिटी, रसभीनी वास्तविकता के चारों ओर लिपट कर रह गई। रंगीन उपवनों से छिटकी और उत्तुङ्ग हिममयी पहाड़ों से घिरी गजनी की उपत्यका से परे संसार का अस्तित्व उसके लिये रह ही न गया किन्तु स्वभाव की यह आकर्षोन्मत्त निरंकुशता अधिक दिन तक स्थिर न रह सकी और डा० नर्गिस तथा गजनी से ऊब उठा।

एक दिन वह नर्गिस और गजनी को छोड़कर अपने मित्र नासिर के साथ रूस की सीमा में पहुंच गया। वहाँ उसका परिचय शिशुशाला की अध्यक्षा कामरेड खतून से हुआ और इस प्रकार वह कम्यूनिज्म के अधिक निकट आ सका। खतून को दिल की बीमारी है। अपनी छाती पर डा० खन्ना का हाथ रखाकर उसने उनसे अपनी बीमारी की दवा चाही मगर डा० खन्ना दवा न कर सके। परिणाम यह हुआ कि खतून के मन में डा० खन्ना के प्रति एक वात्सल्य का भाव जाग पड़ा

और उसने गुलशाँ को अपने भाव की तृप्ति का साधन बनाना चाहा, जैसे भारतीय नारी की बहू देखने की इच्छा उसमें भी पुलकित हो उठी। डा० खन्ना तीसरी बार वर बनने का स्वांग न कर सका और चुपचाप गुलशाँ की झुकी हुई लम्बी पलकों को देख देखकर दूर से कुढ़ता रहा। काल्पनिक विचरण और पलायनवादी अनुसरण के अनुकूल डा० खन्ना कामरेड खतून की आशा और गुलशाँ की प्रत्याशा से अपना पीछा छुड़ाकर राजनीतिक शिक्षा प्राप्त के बहाने वहाँ से भी भाग निकला। मास्को में भी गुलशाँ ने उसकी कल्पना का साथ नहीं छोड़ा क्योंकि जब कभी 'आँखें मूँदे कल्पना में वह राज की गोद में सिर रखे विश्राम करना चाहता था तभी राज से पहले गुलशाँ उपस्थित हो जाती थी'। पत्र लिखकर उसने गुलशाँ से क्षमा माँगी और जीवन भर उसे याद रखने का भावुक आश्वासन भी दिया। बेचारा इससे अधिक कर भी क्या सकता था?

राजनीतिक शिक्षा और रोमांसों का अनुभव लेकर डा० खन्ना अपने मित्र नासिर के साथ भारत वापस आता है। इसी बीच जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और डा० खन्ना को जगह जगह जाकर लोगों को जन-युद्ध की व्यवस्था समझाने का मौका मिला। किन्तु 'चोरवा का मन बसे ककरी के खेत, वाले सिद्धान्त के अनुसार जमुना से भेंट करके उसने राज का पता लिया, जिसमें उसे मालूम हुआ कि राज ने बद्रीबाबू से विवाह कर लिया है। यहीं से डा० खन्ना का ग़मगलत करने की प्रथा के अनुसार निष्क्रिय रोमांस फिर शुरू हो गया और समाजवादी कार्य-क्रम में व्यवधान पड़ने लगा। व्यक्तिगत सुख-लिप्सा की आकांक्षा से सिद्धान्तों को एकदम विस्मरण कर देने वाला कोई भी व्यक्ति डा० खन्ना से होड़ नहीं ले सकता।

आश्रय और साथी ढूंढने की इच्छा से डा० खन्ना ने अपनी साली चन्दा और उसके पति राजाराम से भेंट की और कई दिनों के सम्पर्क

आधुनिक

और सहवास के बाद एक दिन चन्दा से बोला—'अपनी गोद में स्थान देकर वह उसे सहारा दे सकती है'। चन्दा ने भी सहज ही डा० खन्ना 'का सिर अपनी गोद में ले उसके माथे को सहलाने लगी'। डा० खन्ना का मनोरथ पूरा हो गया और वह कहने लगा—'मन चाहता है जैसे शशि (चन्दा की छोटी लड़की) तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ'। चन्दा ने भी संकोच के साथ कह ही दिया—'तो क्या उससे कम हो'? पति की सन्देह-शंका से पीड़ित होकर एक दिन चन्दा छत से नीचे कूद पड़ी डा० खन्ना अपने सिद्धान्तों के अनुसार जनता के बीच में काम न करके एक सन्देहशील व्यक्ति की पत्नी की सेवा और दवा करता है। शायद केवल इसीलिये कि गोद में लेटने की अपनी उत्कट इच्छा का कईबार स्पष्टीकरण कर सके ?

अगस्त की भारतीय तोड़-फोड़ के बाद कांग्रेस के अन्य अनेक कार्यकर्ताओं की भाँति शिवनाथ भी फरार हो जाता है और डा० खन्ना जब कभी चन्दा की गोद में लेटकर विश्राम करता हुआ जनता के बीच में कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। एक दिन चन्दा के आँसू चूमकर उसने उसके दुखी होने का कारण पूछा। चन्दा ने अपने पति की निर्ममता से ऊबकर उसके साथ कहीं निकल भागने की इच्छा प्रकट की किन्तु डा० खन्ना तो केवल उसकी गोद में लेटना चाहता है, उसका भार नहीं सँभालना चाहता। चन्दा के जीवन में अपनी निर्बल वासना से वह संघर्ष तो उपस्थित कर देता है किन्तु उसके सुलझाव का साधन वह नहीं बनना चाहता। क्योंकि जीवन में वह अकर्मण्य और पुरुषार्थहीन है, संघर्षशील और कर्मठ नहीं। चन्दा की स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक उपेक्षा की प्रतिक्रिया स्वरूप वह एक बार मजदूरों के बीच में बहुत ही डरता-डरता पहुँचता है और मिल की हड़ताल में मजदूरों को समझाते समय बुरी तरह से घायल होता

है। चन्दा अपने पति की गैरहाजिरी में उसे लेकर अपनी बहन राज के पास चल देती है।

जो खन्ना कभी स्वस्थावस्था में राज के पास नहीं जा सका था वही डोली में लदकर उसके पास जाने को तैयार हो जाता है। राज के नये जीवन में अपनी स्थिति का अस्तित्व न पाकर वे दोनों उसी रात वहाँ (रानीखेत) से वापस हो जाते हैं। राजाराम पता लगाता अपनी पत्नी को खोजता हुआ उसी पहाड़ी रास्ते में पा भी जाता है और लात, तमाचा आदि के प्रहार भी उस पर करता है। वह चुपचाप कसाई की बछिया की भाँति सब सहती हुई उसके साथ अपने घर को चल देती है। खन्ना के मना करने पर राजाराम कहता है—'चुप धूर्त, देशद्रोही, बदमाश' डा० खन्ना को उसी असहाय अवस्था में उसी जगह छोड़कर वह चन्दा को टाँगकर चल देता है। डा० खन्ना का सिर पत्थरों के ढेर से टिका था मगर वह सोच रहा था कि उसका सिर चन्दा की गोद में है और जीवन-संग्राम में समाजवादी भाग लेने के लिये वह एकबार और स्वस्थ हो रहा है। इसी कल्पना की कोमल क्रोड़ में वह अपनी प्राण-शक्ति का विसर्जन कर देता है और यही उपन्यास का अन्त है।

इस प्रकार 'देश द्रोही' न तो सामाजिक उपन्यास हो पाता न राजनीतिक। इसे रोमान्टिक भी नहीं कह सकते क्योंकि डा० खन्ना के रोमांस भी प्रयोग मात्र के खेल से अधिक महत्व नहीं रखते। उसके रोमांसों का महत्व केवल इतना ही है कि वे उसके सारे सैद्धान्तिक कार्य-कलापों का अन्त कर देते हैं। लेखक ने डा० खन्ना के रोमान्सों का चित्रण जिस मनोयोग और रसिकता से किया है उसके सामने मजदूर वर्ग और उसकी समस्याओं का उद्घाटन नगण्य सा प्रतीत होता है। डा० खन्ना को भारत से लेकर रूस तक की सैर कराकर, अन्त में

आधुनिक

कुत्ते की मौत मारकर उसका जो चित्र उपस्थित किया गया है वह न तो श्रेय है न प्रेय।

पाठक यदि उसे राजाराम के साथ घृणा की दृष्टि से न देखें तो यह उनकी अपनी क्षमता है। जीवन भर वह प्रेमिकाओं की कोमल निरावरण बाहों और सुवासित नरम केश-पाशों में केवल उलझता-सुलझता रहा और अन्त में भी निष्क्रिय प्रेम-कल्पना की गोद में अपने को भस्मीभूत कर दिया, इससे अधिक और उसका कोई कार्य-कलाप नहीं है। समाजवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादन की इच्छा से रचित उपन्यास का नायक इतना निकम्मा, निर्लज्ज तथा अनउत्तरदायित्व पूर्ण बनाकर लेखक ने अज्ञात रूप से इस विचार धारा पर बहुत भारी आघात पहुँचाया है। संघर्ष से विमुख तथा सुख-लिप्सा में लीन और कल्पना के आधार पर आश्रित व्यक्ति को समाजवादी कहना, समाजवाद का मजाक उड़ाना है जो साहित्य की प्रगति के विरुद्ध और लोक-कल्याण की भावना के प्रतिकूल है।

डा० खन्ना का ही नहीं प्रायः सभी पात्रों का परिचय अपूर्ण और मानसिक विकृतियों से बोझिल है। लेखक के स्त्री पात्रों के चरित्र-चित्रण पढ़ने के पश्चात् नागपंचमी के दिन बालकों द्वारा गुड़िया पीटने की प्रथा का स्मरण हो आता है। उपन्यास के अनुभव हीन काल्पनिक वर्णन भी रोचक होकर रह गये हैं, उनमें यथार्थ-चित्रण की सजीवता खोजना भी उचित नहीं जान पड़ता। नासिर का विदूषक अपनी कार्य-कुशलता में अस्वाभाविक, अतिशयोक्तिपूर्ण और अविश्वसनीय हो उठा है क्योंकि किसी अजनबी देश की वेश-भूषा, भाषा तथा चाल-ढाल अपनाने में जितना समय अपेक्षित है लेखक ने उसे नहीं दिया। ठोंक पीटकर उसे केवल सुजानसिंह बना दिया है। फिर भी, भाषा के अटूट अधिकार, व्यंग और हास पर निर्भीक गति तथा वर्णन की रोचकता में लेखक को काफी सफलता मिली है। अस्तु

इन सब बातों का ध्यान रखकर यदि हम डा० खन्ना को देशद्रोही न भी कहें तो उसे समाजद्रोही अवश्य कह सकते हैं।

डा० रामविलास के हंस में प्रकाशित लेख से पता चला कि यह उपन्यास राहुल जी को बहुत पसन्द है। पता नहीं क्यों? भ्रमण के नाते इस उपन्यास का कथा नायक डा० खन्ना प्रख्यात समाजवादी राहुल जी से होड़ लेता सा जान पड़ता है किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें राहुल जी के साहित्यिक दृष्टिकोण को तृप्ति देने के लिये और कुछ नहीं है। लेखक तर्क और बुद्धि से समाजवादी ज्ञात होता है किन्तु उपन्यास में अभी वह प्रेम सम्बन्धी विचारों की सीमित परिधि से ऊपर नहीं उठ सका। उसे केवल अस्वस्थ और असामाजिक प्रेम का चित्रकार माना जा सकता है न कि किसी राजनीतिक सिद्धान्त की उद्भावना का अग्रदूत।

साहस, संयम और लगन में कोई भी सार्वजनिक कार्यकर्ता अपने सिद्धान्तों के सामने रोमान्स की विकृत रंगमयता का आधार नहीं ले सकता, ऐसा मेरा विश्वास है। काश कि डा० खन्ना को लेखक ने कम्यूनिस्ट बनाकर आदर्श के रूप में उपस्थित न किया होता तो देशद्रोही शरद के सामाजिक उपन्यासों के बीच में खप जाता और उसकी गुरुता भी बढ़ गई होती क्योंकि डा० खन्ना सामान्य मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि हो सकता था न कि समाजवाद का स्वाँग। कोई भी कम्यूनिष्ट अपनी प्रेमिका की गोद में सिर रखने की काल्पनिक रसनिमग्नता में अपना जीवन नहीं त्याग कर सकता, यह निश्चय है।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि लेखक ने अपने वक्तव्य के 'शिश्नोदर' की पूर्णता को छोड़कर केवल योनि तृप्ति की विवेचना में उलझ सा गया है। माना कि उपन्यास में समाजवादी दृष्टिकोण का बहुत सुन्दर विवेचन और विवाद है पर उपन्यास के प्रधान आधार नायक, डा० खन्ना का चरित्र बहुत ही अपूर्ण और विकलाङ्ग है।

आधुनिक

पाठक डा० खन्ना के इस स्वरूप से परिचित होकर समाजवादी विचार धारा के प्रति अनुरक्त न होकर उदास ही हो सकता है। डा० खन्ना जैसे अस्वस्थ मानसिक स्थिति वाले व्यक्ति का कम्यूनिष्ट होना सन्देह से खाली नहीं हो सकता। समाजवादी भाव धारा का अनुसरण करने के लिये जिस स्वस्थ प्रवृत्ति, संस्कृत हृदय और परिष्कृत बुद्धि की अपेक्षा है उसका आभास भी कथा नायक में नहीं मिलता। उपन्यास की यह बहुत बड़ी कमी है।

जो व्यक्ति अपनी विकृतियों में मग्न होकर आत्म-संस्कार के प्रश्न को भविष्य के लिये छोड़ देता है वह कभी जनता का पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकता, यह मेरी दृढ़ धारणा है। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है—'हमारे साथ विकलाङ्ग भी हो सकते हैं और व्याधि ग्रस्त भी, पर निर्माण के लिये हमें पूर्णाङ्ग और सबल व्यक्ति चाहिये। जब निर्माण हो चुके तब हम विकलाङ्गों और पीड़ितों को संरक्षण भी दे सकते हैं और उन्हें स्वस्थ बनाने के साधन भी एकत्र कर सकते हैं। किन्तु कुछ बनाने का कार्य आरम्भ करने के पहले यदि हम उन्हें अपने आगे खड़ा कर लेते हैं तो अपनी असमर्थता के विज्ञापन के अतिरिक्त कुछ नहीं करेंगे'। वास्तव में लेखक कभी भी विकृतियों में उलझी मानसिक दुर्बलता को किसी भी सुन्दर और सामूहिक सिद्धान्तवाद में छिपा नहीं सकता, इसे सदैव स्मरण रखना होगा।

आशा है कि लेखक अपनी विधायक तथा अभिनन्दनीय शैली का उपयोग भविष्य में अधिक सतर्कता और संयम से करेगा क्योंकि राजनीतिक सिद्धान्त की चर्चा से परे 'देशद्रोही' एक आकर्षक उपन्यास और यशपाल एक सफल कथाकार हैं।

अन्य कथाकार

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'—कौशिक जी हिन्दी कथा-साहित्य के पुराने और परीक्षित कलाकार हैं। हास्यरस की छोटी कहानियों में उन्होंने काफी सफलता प्राप्त की है। 'माँ' और 'भिखारिणी' आपके दो उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं। कौशिक जी अपने विषय के चुनाव में बहुत ही सतर्क हैं। जीवन तथा जगत् की जिन वास्तविकताओं का उन्हें पूर्ण ज्ञान होता है उन्हीं को वे अपने कथानकों में सजाते-सँवारते हैं। कौशिक जी अपने वर्णन, कथोपकथन और भाषा की प्रवाहमयी शैली में प्रेमचन्द जी के बहुत निकट हैं। कौशिक जी की हार्दिकता प्रेमचन्द से भी आगे है, हृदय स्पर्श की क्षमता उनकी कृतियों में बहुत है। प्रेमचन्द के प्रायः कथानक बहुत ही गुँथे तथा उलझे हुये रहते हैं किन्तु कौशिक जी अपने कथानकों की प्रतिपादना में स्पष्टता तथा रोचकता को पहला स्थान देते हैं। 'माँ' नामक उपन्यास में मानवीय जीवन की भावी विकास-विधि में माँ के आश्रय का अभिकाम प्रदर्शन बड़ी सावधानी से किया गया है। सन्तान की जीवन-सुचारुता में माँ का प्रभाव वास्तव में बहुत निश्चित रहता है, इसी तथ्य का सुन्दर चित्रण इस उपन्यास में बड़ी सरलता से किया गया है। प्रेमचन्द-युग के आदर्श से कौशिक जी भी प्रभावित हैं।

'भिखारिणी' में एक भिखारिणी के अनुपम अनुराग और अतुल त्याग की करुण-कोमल कहानी है। गरीबी और मलिनता के भीतर भी एक उच्च और संवेदनशील मानवीय हृदय की स्थिति का प्रकाशन इसमें कौशिक जी ने बड़ी सावधानी से किया है। अपनी सहज दुर्बलताओं से दबा हुआ रामनाथ आजकल के भावुक और सस्ते

आधुनिक

रोमान्टिक युवकों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। सीधी कहानी और थोड़े से पात्रों को लेकर कौशिक जी बड़ी कुशलता से अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण कर जाते हैं। जीवन की किसी मार्मिक घटना को वे सम्पूर्ण-जीवन-चित्रण से अधिक महत्व तथा ममता देते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी कहानियों का प्रभाव और आकर्षण बहुत बढ़ जाता है। कथानकों की सरलता और रमणीयता के वे कुशल कलाकार हैं। चरित्र-चित्रण के विकास में कौशिक जी अपने प्रवचनों तथा मानसिक द्वन्द्वों का सहारा न लेकर पात्रों की रहन-सहन तथा [illegible] देते हैं, जो बहुत ही स्वाभाविक और विश्वसनीय जान पड़ता है। प्रेमचन्द की भाँति कौशिक जी के पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा वर्ग का प्रतीक बनकर उपस्थित होते हैं, किन्तु 'भिखारिणी' का आत्मबल इतना प्रबल है कि वह स्वयं परिस्थितियों की दासी न होकर स्वामिनी है। संवादों की सफलता में कौशिक जी सबसे आगे हैं, उनकी व्यावहारिक भाषा इसका सबसे सुन्दर और सफल वाहन है।

चतुरसेन शास्त्री—कुछ साल पहले शास्त्री जी की कहानियों की बड़ी धूम थी, किन्तु अब इधर वे बहुत कम लिखते हैं। आपने कुछ सुन्दर ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा', 'हृदय की प्यास' तथा 'आत्मदाह', आपने ये चार उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें 'अमर अभिलाषा' सब से अधिक सफल रचना है। इस उपन्यास में हिन्दू-समाज की विधवाओं का बहुत ही करुण और सजीव चित्रण है। कई विधवाओं की कहानियों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास कुछ खटकता सा है। समस्या की विवेचना के साथ उसके सुधार का सुझाव भी लेखक ने संकेत-रूप से उपस्थित किया है। उद्देश्य की उत्तमता के साथ-साथ इस उपन्यास की समस्या बहुत पुरानी और पिछले युग से अधिक

सम्बन्धित प्रतीत होती है। चित्रण में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता और मर्यादा-भंग का दोष भी स्पष्ट है। अश्लील अवतरणों का प्रबोधन पाठिकाओं के प्रति करके शास्त्री जी ने अपनी साहित्यिक सुरुचि से विद्रोह किया है। इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य उत्तेजनामय प्रचार मालूम पड़ता है। ऋषभचरण जी की सम्मति इस उपन्यास के बारे में बहुत ही लचर और असंतुलित है। कला की सृष्टि और प्रचार की उपदेशात्मक प्रवृत्ति में अन्तर समझने वाले व्यक्ति सम्भवतः इस उपन्यास की उतनी अधिक प्रशंसा नहीं कर सकेंगे। 'आत्मदाह' का कथानक और भी अव्यवस्थित है। उपन्यास पढ़ने से पता चलता है कि लेखक के पास कोई पूरी कहानी नहीं है, वह उसे शब्दों की शक्ति और अर्थ-हीन भावुकता के सहारे आगे बढ़ाना चाहता है, किन्तु वह बढ़ नहीं पाती।

यथार्थ की ओर अपनी प्रतिभा का प्रयोग करनेवालों में उग्र के बाद शास्त्री जी का स्थान रहेगा; क्योंकि चाहे उनके निर्वाह में कमी हो, पर वे उद्देश्य की स्पष्टता में सफल हैं। शास्त्री जी की भाषा-शैली चुस्त और चालू है, किन्तु भाषा में पछाँहीपन का आग्रह उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है। निश्चित विचार तथा सिद्धान्त उनके कथानक को और भाषा की अनाकर्षकता कहानी की रोचकता को बिगाड़कर एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देते हैं, जहाँ पर एक समस्या के सुझाव के साथ अन्य अनेक उलझनें सामने आ पड़ती हैं। शास्त्री जी में प्रतिभा, मौलिकता और भावुकता की कमी नहीं, किन्तु उनकी कला का रूप-विन्यास बहुत पुराना और घिसा-घिसाया है। वे कहानीकार अधिक अच्छे हैं।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव----अंग्रेज़ी सभ्यता के विकास के साथ-साथ भारत में एक ऐसा नया वर्ग उत्पन्न हो गया है जो नगरों की नाक 'सिविल लाइन्स' के बंगलों में रहता और अपने को 'साहब' नाम से सम्बोधित कराके सन्तुष्ट रहता है। क्लब की पार्टियाँ, टेनिस के मैदानों की क्रीड़ायें तथा सिनेमा-घरों की हास-लड़ियाँ ही उनके जीवन की

आधुनिक

विनोद-वीथियाँ हैं। साधारण जनता से दूर, लोगों के भय-जनक आदर के आधार तथा अंग्रेजी सभ्यता के कर्णधार लोगों की ओर बहुत कम कथाकारों ने ध्यान दिया है। वे केवल 'बाबुओं' तक ही पहुँचते रहे; इन 'साहबों' की तरफ ध्यान नहीं दिया। श्रीवास्तव जी ने इस वर्ग को अपनी प्रतिभा का प्रथम प्रकाश दिया है।

'विदा' इनका पहला उपन्यास है, जो अपने विषय की सीमा में सफल और सुन्दर है। अच्छाई या बुराई किसी वर्ग या जाति की बपौती नहीं होती; सभी जगह त्याग और उदारता के उदाहरण मिल सकते हैं। परिश्रम करते समय जितना किसान का पसीना बहाना सच है, विहार करते समय रईस का रुपया बहाना भी उतना ही सच है। विलास की ज्वाला में असंख्य धन हमारे यहाँ के उच्च वर्ग के लोग स्वाहा करते हैं, यदि इस बात का ज्ञान हमें पूरी तरह हो जाय तो उसके उपार्जन के आधार किसानों की दशा का स्पष्ट स्वरूप सामने आ जाता है। श्रीवास्तव जी ने इसी रहस्योद्घाटन की औपन्यासिकता दिखाई है। 'विदा', 'विकास और 'विजय', तीनों के उद्देश्यों में बहुत कुछ साम्य सा दिखाई पड़ता है; नारी-समस्या का प्रवेश तीनों उपन्यासों में किसी न किसी प्रकार कराया गया है। अपूर्व त्याग और क्षमता के उदाहरण प्रत्येक उपन्यास में समान रूप से मिलते हैं। स्त्री-स्वतन्त्रता का सन्देश तीनों उपन्यासों में मिलता है। कुछ अपनी अलग अलग विशेषताएँ भी हैं, किन्तु साम्य का सूत्र भी निश्चित है।

'विदा' में दाम्पत्य-प्रेम और मातृ-भक्ति का संघर्ष होता है और मातृ-भक्ति की विजय होती है। डेक नामक डाकू की सृष्टि उपन्यास में जासूसी चमत्कार की उद्भावना करता है। चपला का चरित्र बहुत ही साफ और उज्ज्वल बन पड़ा है। 'विलास' में कुली प्रथा के प्रति बड़ों के पाशविक अत्याचार का अत्यन्त मार्मिक उद्घाटन है। अमिलिया इस उपन्यास की गरिमामयी उदार नारी है। पुनर्जन्म की

सिद्धि का आग्रह पाठकों की बौद्धिक वृत्ति को संतोष नहीं दे पाता। आघात द्वारा पूर्व जन्म की स्मृति का जागरण श्रीवास्तव जी की अपनी सूझ है। 'विजय' में विधवा-विवाह की समस्या का सुझाव लेखक के सामने उपस्थित है। यह समस्या साधारण मध्यवर्ग के समाज के माध्यम से अपनी उपस्थिति नहीं देती, वरन् एक शिक्षित, धनवान, उच्चवर्ग की अपेक्षा रखती है। स्वभावतः समस्या परिस्थिति-जन्य न होकर बौद्धिक स्वरूप धारण कर लेती है। इनके पात्र सजीव और कथा रोचक होती है। भाषा में बेमेल शब्दों का गठन खटकने वाला होता है। इनकी भारतीय-आदर्श-प्रियता सब से बड़ी विशेषता है।

श्रीनाथ सिंह—ठाकुर श्रीनाथ सिंह वास्तव में एक पत्रकार हैं, किन्तु कहानी तथा उपन्यास भी वे लिखते हैं। 'उलझन', 'जागरण' और 'प्रभावती' तथा 'प्रजा-मंडल' नामक उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। पत्रकार का स्वभाव प्रचारात्मक होना स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है। ठाकुर साहब अपनी कृतियों को भी इससे ऊँचे नहीं उठा पाये। 'जागरण' की भूमिका में लेखक ने बताया है कि वह इस उपन्यास की सृष्टि उसी प्रेरणा से करता है जिस प्रेरणा से मुहम्मद, ईसा तथा हमारे अन्य प्राचीन ऋषि-मुनि कार्य किया करते थे। लेखक की यह अभिमानपूर्ण विज्ञप्ति उपन्यास की सफलता में साकार नहीं हो सकी। इसका कथानक महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित ग्राम-सुधार पर आधारित है, किन्तु यह सिद्धान्त पात्रों का अपना विश्वास नहीं हो पाया, वरन् लेखक ने इसे उन पर जबरन् थोपा है। पात्रों के जीवन का स्वाभाविक विकास कभी लेखक की वकालत से सम्भव भी नहीं होता।

अछूतों के विषय में लम्बे-लम्बे वाद-विवाद, शासक-वर्ग के कर्मचारियों के अत्याचार, स्त्रियों का उद्धार, आदि की बातें उपन्यास के वातावरण की उपज न होकर लेखक के आग्रह की आकुलताएँ मात्र ज्ञात होती हैं। बीच-बीच के प्रसंगों से गांधी-दर्शन का स्पष्टीकरण

आधुनिक

अवश्य होता है, किन्तु वह कला की वस्तु न होकर ज्ञान का विषय है। 'उलझन' में विवाह की समस्या की उलझन है। फाँसी और हत्या के उपायों द्वारा इस समस्या के सुझाव का प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। आदर्शवाद के निर्वाह के कारण लेखक ने वैवाहिक सम्बन्ध की अपेक्षा भाई-बहन, माता-पुत्र के सम्बन्ध को अधिक महत्व दिया है। सम्भवतः लेखक का दृष्टिकोण दाम्पत्य-सम्बन्ध के प्रति निराश और उदास है। इन उपन्यासों में एक ओर इतना आदर्शवाद है कि जगतनारायण पत्नी से भी बहन का सा व्यवहार रखना चाहते हैं, किन्तु दूसरी ओर स्त्री-स्वतंत्रता के पक्षपात में किसी की पत्नी को किसी के पति के साथ रहने में हानि नहीं समझते। वास्तव में ये बातें उलझन की हैं।

'प्रजामंडल' लेखक का आधुनिकतम उपन्यास है। इसमें देशी नरेशों और उनकी प्रजा के अन्यायपूर्ण शोषण-सम्बन्धों की विवेचना है। विषय तो बहुत मौलिक और उपयोगी है, किन्तु लेखक की पहुँच उसमें कम है। पुस्तकों और जनश्रुतियों से लिये गये कथानकों में अनुभूतिमय साहित्यिक सच्चाई नहीं आ पाती। ठाकुर साहब की प्रायः सभी कृतियाँ उपदेशात्मक प्रचार की पीठिका पर आरूढ़ हैं। उनकी भाषा की प्रौढ़ता और अपनी मान्यताओं की दृढ़ता अवश्य ही काबिले तारीफ है। कथावस्तु को आगे बढ़ाने के लिये दैवी-शक्ति और हवाई जहाजों का सहारा आधुनिकता और प्राचीनता का अद्भुत मेल है।

राधिकारमणप्रसाद सिंह—लक्ष्मी के लाल होते हुए भी साहित्य की सेवा का अनुराग राजा साहब की सुरुचि का सच्चा उदाहरण है। आपकी छोटी कहानियाँ बहुत ही भावमय और सरस होती हैं। 'रामरहीम' आपका बहुत बड़ा उपन्यास है; आकार में सम्भवतः उससे बड़ा उपन्यास हिन्दी में अब तक नहीं लिखा गया। इस उपन्यास के विषय में लेखक ने लिखा है—"रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी की टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोल कर रख

देने की कोशिश की गई है। यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छींटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है। भारतवर्ष के अन्तर्गत इस युग के आचार को, इस युग के विचार को, इस युग की पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है।"

आपकी भाषा का आकर्षण बहुत ही बढ़ा-चढ़ा और रोचक है, इसमें सन्देह नहीं। यह उपन्यास इतना विराट है कि इसके कथानक में संबद्धता और शैली में सरलता बनाये रखना वास्तव में लेखक की प्रतिभा का प्रमाण है। कथानक में शाखायें, प्रशाखायें इतनी फूटती हैं, किन्तु उनका सब का सम्बन्ध मूल कथा से कभी छूटने नहीं पाता। रोचकता और कौतूहल की भी कमी नहीं होती। बेला और बिजली नाम की दो नारियों की विरोधात्मक भावधारा का तुलनात्मक विश्लेषण ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। बीच-बीच में प्रासंगिक रूप से अन्य अनेक उच्च तथा निम्न वर्ग के पात्र अपनी उपस्थिति दे जाते हैं, किन्तु वे केवल कथा की गति के सहायक मात्र होते हैं। फिर भी पात्रों की इस क्षणिक-जीवन-धारा में भी लेखक उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट आभास पाठकों को देता चलता है। जीवन का अध्ययन और अनुभव लेखक को है, यह बात उपन्यास पढ़ने से साफ हो जाती है।

इधर 'पुरुष और नारी' इनका दूसरा उपन्यास भी निकला है। यह तो साफ है कि लेखक ने साहित्य को किसी व्यावसायिक दृष्टि से नहीं अपनाया, जिसके कारण उसके व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति की सुविधा बहुत बढ़ गई है। सृजन के लिये ऐसी सुविधा स्वयं एक विशेषता की महत्ता रखती है। दोनों उपन्यास घटना-प्रधान होते हुये भी मनोवैज्ञानिकता से पूर्ण हैं। सुधार और प्रचार तथा योजनाओं के निर्माण की अपेक्षा राजा साहब ने अपने कथानकों का विकास बहुत

आधुनिक

ही स्वाभाविक ढंग से किया है। समाज में इन कृतियों का आदर होना चाहिये।

चंडीप्रसाद हृदयेश—जीवन की सहज-सरल स्वाभाविकता का आग्रह आधुनिक कथासाहित्य की सब से बड़ी महानता मानी जाती है। चित्रण, वर्णन तथा घटनायें सामान्य सामूहिक जीवन की स्वाभाविकता से अपना विकास पाकर जीवन की सच्चाई का उन्मेष करते हैं। प्राचीन भारत में संस्कृत में गद्यमयी आख्यायिकायें भी अलंकृत प्रणाली पर लिखी जाती थीं। अलंकारों की योजना, भाषा की कवित्वमय प्रासादिकता ही उनकी सब से बड़ी विशेषता मानी जाती थी। पात्रों की बातचीत भी तथ्य-उद्घाटन की अपेक्षा रसाभास देने में ही अपना विस्तार पाती थी, जिसमें गद्य के विश्लेषण की अधिकता से काव्यानन्द ही अधिक प्राप्त होता था। कहानी तथा उपन्यास की नवीन चेतना ने अपने को उससे अलग रखने ही में अपना सम्मान समझा और कृत्रिमता को छोड़कर जीवन की निश्चित और विश्वसनीय परिस्थितियों के उद्घाटन में अपना आदर्श पाया। हृदयेश जी आधुनिक चरित्र-चित्रण तथा प्राचीन वर्णन-प्रणाली के मेल से अपनी कथाओं का शृंगार करना अधिक उपयोगी समझते थे। उनकी प्रतिभा और पांडित्य इस निर्वाह के अनुपयुक्त था।

'नन्दन-निकुंज' उनकी कहानियों का भावपूर्ण कल्पनात्मक संग्रह है, और 'मंगल प्रभात' एक सामाजिक उपन्यास। यह एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें सेवा, त्याग और आत्मशुद्धि आदि सांस्कृतिक भावनाओं की विवेचना का उत्तम आदर्श रखा गया है। दिव्य गुणों से विभूषित उच्च आध्यात्मिक चरित्रों के साथ इसमें कुछ निम्न प्रवृत्तियों के व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण है, किन्तु लेखक का आग्रह आध्यात्मिकता की ओर ही अधिक है। कथानक के प्रारम्भ, बीच और अन्त में धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक वर्णनों की बहुतायत से उसकी गति

आगे बढ़ती है। उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं तथा अलंकारों की भरमार है। अपने ढंग का यह अकेला उपन्यास है। कथा के साथ काव्य का आनन्द और विचार के साथ भावना का जागरण इसकी अपनी विशेषता है।

हृदयेश जी ने अधिक नहीं लिखा, अन्यथा वे एक नयी अलंकृत शैली के निर्माण में अपनी प्रतिभा को अमिट कर जाते। फिर भी 'मंगल प्रभात' अपने ढंग का सुन्दर और सरस उपन्यास है।

उषादेवी मित्रा—एक बंग-महिला होते हुये भी श्रीमती उषादेवी ने हिन्दी को अपनाया है। आपने कुछ सुन्दर छोटी कहानियाँ लिखी हैं। आपके तीन उपन्यास भी हैं -'वचन का मोल', 'पिया' और 'जीवन की मुसकान'।

तीनों उपन्यासों में जीवन की विषम परिस्थितियों से पीड़ित नारी-हृदय की चेतना के दर्शन होते हैं। उपन्यासों के पात्र प्रायः सम्पन्न वर्ग के प्राणी हैं, उनकी समस्यायें आर्थिक और राजनीतिक न होकर केवल प्रेम की पारमार्थिक जिज्ञासायें हैं। उपन्यासों का वातावरण भारतीय न होकर बंगाली अधिक है। नायिकायें अधिकतर मूक और वेदना को चुपचाप सहन करने वाली साधिकाएं हैं। उपन्यासों का कथानक इन नायिकाओं की वेदना-ग्राहिणी तरलता से आर्द्र रहता है।

'वचन का मोल' की कजरी में हम प्रेम, दया तथा कर्तव्य के प्रति निष्ठा का अपूर्व किन्तु स्वाभाविक मेल देखते हैं। उसका आत्मबल और चरित्रबल दोनों पाठकों को चकित कर देने वाले हैं। उसकी दबी नारी भावना के उत्थान की परिणति देश-सेवा में होती है। इस उपन्यास के पात्रों द्वारा पूर्वी और पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के विरोध का बहुत सफल चित्रण सामने आता है। पश्चिमी सभ्यता में पली ललिता भी भारतीय गृहिणी बनकर संतोष लाभ करती है। 'पिया' एक ऐसी नारी की कथा है जो अपने प्रेम-पात्र के लिये अपना जीवन

आधुनिक

तक उत्सर्ग कर देती है। देश-सेवा के मार्ग में इसने भी अपना परि-उत्थान किया, क्योंकि उसका प्रेमी विवाहित होने के कारण उससे विवाह करने में असमर्थ था। इसका कथानक सीधा-सादा किन्तु महत्व से खाली सा है।

'जीवन की मुसकान' की नायिका सविता है जो "निर्झर की गति जैसी सरल, भैरवी की मूर्छना जैसी स्वप्नातुर, राधा के ध्यान जैसी अपनी राह बिसरी-लुटी सी" है। इस अबोध बालिका की सगाई हो चुकी थी, किन्तु [illegible] करने के कारण उसका विवाह न हो सका। [illegible] भी ही प्यार करती है, क्योंकि वह [illegible] बाद को उसका पति (प्रस्तावित) कमलेश भी उसकी भावना को समझ लेता है और उसकी ओर आकर्षित होता है, किन्तु सविता यह सब झंझट छोड़कर तीर्थयात्रा को चली जाती है। उसके इस त्याग से उसकी सहपत्नी भी स्तब्ध रह जाती है। मिश्रा जी के प्रायः सभी पात्र भावुक और आत्म-प्रताड़ना-पूर्ण हैं। वे अपने पात्रों की करुण स्थिति का चित्रण इतनी सहानुभूति से करते हैं कि पाठकों के सामने पात्रों की अपेक्षा वे स्वयं करुण बन जाते हैं। 'वचन का मोल' में वचन पालन के प्रति उनका बहुत ही तीखा व्यंग है। भविष्य में अभी मिश्रा जी से कथा-साहित्य को बड़ी-बड़ी आशायें हैं।

सर्वदानन्द वर्मा—प्रेमचन्द के बाद कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी उपन्यासों का कलात्मक स्तर ऊँचे नहीं जा सका, कारण प्रत्येक नवीन लेखक अपनी विचारधारा को ही सर्वोत्तम मानकर अपने अहम् के अहंकार को पूरा करना ही अपना परम कर्तव्य समझने लगा है। प्रतिभा, मौलिकता तथा नवीनता का उन्मेष भले उनकी कृतियों में न हो, पर उनके वक्तव्यों में उन्हें श्रेष्ठ समझने का आग्रह तो अनिवार्य सा हो गया है।

वर्मा जी ने लिखा है—"मुझे प्रसन्नता है कि उपन्यासकार के रूप में हिन्दी-संसार ने मुझे काफी आगे देखा। नये उपन्यास-लेखकों में मुझे अग्रणी कहा गया। हिन्दी-संसार ने जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अज्ञेय के साथ आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ तीन उपन्यास-लेखकों में मेरा भी नाम लिया। यह बहुत बड़ा सम्मान है। एक उपन्यास के बलपर इतनी प्रसिद्धि कम ही लोगों को मिलती है।" अपने सम्मान की इस अप्रत्याशित बाढ़ पर कुछ कहने के बाद वर्मा जी ने अपने जीवन-दर्शन का भी परिचय दिया है, जिसका सार यह है कि लेखक स्त्री की पतिपरायणता (सतीत्व) को पूँजीवाद की उपज समझता है, और उसका विचार है कि विवाहित स्त्रियों को भी मनमाने समय और मनचाहे आदमी के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। 'नरमेध' में इसी विचार के प्रचार की चेष्टा है।

पिछली पीढ़ी की उपदेशात्मक सामाजिक उपन्यास-कला ने वृद्ध-विवाह को रोकने और विधवा-विवाह को गतिशील बनाने के लिये अपने कथानकों में युवती सौतेली माँ से युवक सौतेले पुत्र का अनुचित सम्बन्ध दिखा कर वृद्ध-विवाह की प्रथा पर कुठाराघात करने की सम्भावना खोज निकाली थी। विषय की कुरूपता के साथ उसके उद्देश्य की सुचारुता से किसी का विरोध नहीं हो सकता। वर्मा जी ने भी उसी पुराने घिसे-घिसाये वस्तु-संगठन का सहारा लिया है, किन्तु उनका उद्देश्य वृद्ध-विवाह की प्रथा के प्रति क्षोभ उत्पन्न करना न होकर सतीत्व की प्रथा पर आघात करना है। 'नरमेध' का नायक अपने पिता के वृद्ध-विवाह के विरोध में घर से भागता है और उसी रात को अपने एक मित्र की पत्नी को उसके सतीत्व से मुक्ति देता है, उसके बाद अपनी सौतेली माँ को भी गर्भवती बनाता है। नर-नारी के सम्बन्धों पर लेखक का अपना विचार कुछ भी हो, किन्तु उपन्यास की सीमा में वह नहीं समा सका,

आधुनिक

यह निश्चय है। कला तथा साहित्य मनुष्यता और पशुता की स्पष्ट अन्तर-रेखा है, इसमें प्राणहीन उच्छृंखलता तथा विवेकहीन अव्यावहारिकता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता। पूरे उपन्यास में नायक की निर्लज्जतापूर्ण शठता और लेखक की असंयम-जनित अराजकता का आभास छोड़ कर पाठकों को और कुछ नहीं मिलता। 'निकट की दूरी' 'नरमेध' से अधिक अच्छा बन पड़ा है।

नरोत्तमप्रसाद नागर—इधर कुछ वर्षों से कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है। जैनेन्द्र कुमार इस दिशा में अग्रणी कहे जा सकते हैं। इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय ने भी अपनी कृतियों में इसका समावेश करके समुचित सफलता प्राप्त की है। ऐसी कृतियों का सामान्य धरातल से कुछ ऊपर या कुछ नीचे रहना आवश्यक सा होता है, कारण व्यक्ति का विकास और ह्रास दोनों अपना मनोवैज्ञानिक पहलू रखते हैं। इस स्थिति में कलाकार की प्रतिभा पात्रों के चुनाव की अपेक्षा उनके पात्रों की गति और उसके अनुभव की सीमा का विस्तार चाहती है। नागर जी ने जिस पात्र का चुनाव किया है वह संस्कार तथा समाज-जनित पीड़ा की कठोरता में पड़कर कुछ विकल और विक्षिप्त सा हो गया है। ऐसे व्यक्ति के मानसिक भावों के अध्ययन की लेखक ने चेष्टा की है।

उनके उपन्यास 'दिन के तारे' का नायक शशि अपने संस्कार और सामाजिक वातावरण के फलस्वरूप एक 'न्यूरोटिक' की भाँति जीवन में आगे बढ़ता है। सारा उपन्यास शशि की आत्मकथा है। शशि का मानसिक तथा शारीरिक विकास पूर्णतया अपने स्वभावानुकूल नहीं हो पाया और प्रतिक्रिया-स्वरूप उसका विभाग रचनात्मक से अधिक ध्वंसात्मक है। उसके इस स्वभाव की अनिवार्यता पर नागर जी ने काफी अच्छा प्रकाश डाला है, जो मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ बोधगम्य भी है। शशि का समाज के साथ विद्रोहात्मक अथवा

विक्षोभात्मक भाव अपने परिवार की सीमा में ही विकसित होता है। उसकी शादी आशा से होती है, किन्तु 'एक-मातावती' होने के कारण शशि उसका सफल पति नहीं बन पाता, यद्यपि वह बाप हो जाता है। शशि के जीवन का यह स्तर उसकी मानसिक रुग्णता का परिणाम होने के कारण स्वस्थ मस्तिष्क में प्रवेश नहीं कर पाता। यहाँ पाठक उसके प्रति भौंचक्का सा बन जाता है। बेकारी की अवस्था में शशि से एक बाबू जी का परिचय होता है। वे आधुनिक व्यावसायिक-वृत्ति के प्रतिनिधि और अपनी धूर्तता में अकेले हैं। अपने सहकारियों का शोषण करने वाले बनिया-क्लास के इस व्यक्ति का चरित्र नागर जी ने बहुत ही सफाई से उभार कर सामने रखा है। बीच-बीच में शशि के माध्यम से नागर जी ने समाज की विपन्नता और उसके खोखलेपन की ओर भी संकेत किया है।

शशि बाबू जी की दुर्नीति का बदला लेने की इच्छा-स्वरूप उनके दिये हुये नारियल को बाबू जी के सिर की कल्पना करके जमीन पर पटक देता है और सोचता है कि जैसे उसने उनके सिर को ही दे पटका हो। शशि की निष्क्रियता तथा उसके स्नायविक दौर्बल्य का इससे अधिक सजीव उदाहरण दूसरा नहीं हो सकता। शशि एक भयंकर तथा विकृत मनोविकार-ग्रस्त प्राणी है, उसमें न संघर्ष की शक्ति है न विद्रोह का बल। वह एक स्त्रैण और अत्यन्त दुर्बल अर्ध-मानव है। सम्भवतः इसका कारण उसका माँ और बहन के प्रति अतुल आकर्षण हो। स्त्रैण पात्र की स्वाभाविक मनोस्थितियों का अप्रत्याशित आरोप अपने में कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार 'बन के तारे' विषय और वर्णन दोनों स्वरूपों में औपन्यासिक सीमा में प्रवेश नहीं कर पाता। कथानक, नायक की प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली अस्थिर मन-लहरियों के साथ जीवन के सामाजिक और पारिवारिक कूलों में टकराकर छिन्न-भिन्न होता चलता है, उसमें संगति और सम्बद्धता का नितान्त

आधुनिक

अभाव है। लेखक की विश्लेषणमयी ज्ञान-गरिमा ने शशि को आदर्श रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है, किन्तु वह रबड़ के गुब्बारे की भाँति जीवन की दीर्घ श्वास से फूल कर अपने आप फट्ट की आवाज के साथ फट जाता है। भूमिका में युग की निष्क्रियता का निदर्शन फटने के सक्रिय स्वर में विलीन हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय कलाकार के लिये आवश्यक है कि वह अपने पात्रों के विकास-क्रम में स्वयं अपनी मानसिकता का दुर्बल पहलू अज्ञात रूप से सामने न रख दे। क्या ही अच्छा होता कि नागर जी गांधी, जैनेन्द्र तथा अन्य व्यक्तियों एवं कृतियों के विश्लेषण को कभी आत्माभिमुख भी कर पाते। पर-हित-काज निर्मित जाल में स्वयं फँस जाना मनोवैज्ञानिकता की सबसे बड़ी विडम्बना है। तटस्थता की वैज्ञानिक महत्ता चरित्रों के आन्तरिक अध्ययन में बहुत आवश्यक है, अन्यथा 'काम्प्लेक्सों' की कठिन-कारा में कलाकार को स्वयं बन्दी बन जाना पड़ता है। मैं स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि राजनीतिक नेताओं की कार्यावलियाँ और प्रेमचन्द की कृतियाँ जीवन के उस निष्क्रिय छोर को भी नहीं छूना चाहतीं जो शशि के सम्पूर्ण जीवन का ओढ़न-डासन है। "हमारी दशा उस मगर जैसी हो गई है जिसे अब कोई भी नशा उत्तेजित नहीं कर सकता" वाली उक्ति जितना शशि पर लागू होती है किसी अन्य औपन्यासिक चरित्र पर नहीं। वास्तव में व्यंग का उलट जाना भयानक होता है। नागर जी ने लिखा है—"जहाँ प्रेमचन्द 'ऐक्शन' का चित्रण कर सके थे वहाँ इन पंक्तियों के लेखक ने 'इन-ऐक्शन' का चित्रण किया है।" लेखक की इस प्रतिभा का परिचय उपन्यास के नायक के इन शब्दों से "बेकार हूँ और बेकार ही मैं रहूँगा। जमकर काम करना क्या होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता," पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। जम न सकने

की अस्थिर सामाजिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया और न जमने की स्थिर मनोवृत्ति का विरोधाभास अद्‌भुत और अनोखा है।

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि पूरी पुस्तक का शब्द-विन्यास, भाव-संचरण और कथानक का विकास सभी इतने उलझे हुये और शिथिल हैं कि पाठक का मन लेखक के मूलोद्देश्य तक पहुँचने के पहले ही थक सा जाता है, और किसी कदर यदि अन्त तक वह पहुँच भी जाय तो उसे वही क्षोभ होता है जो प्यासे को कुएँ के पास पहुँच कर उसके सूखेपन की व्यर्थता के बोध से सम्भव है। नागर जी गम्भीर परिहासात्मक रेखा-चित्रों और विक्षुब्ध मस्तिष्क की स्वगतोक्तियों के उद्‌घाटन में सफल हैं। शशि के निकम्मेपन के चित्रण में उनकी कर्मठता की प्रशंसा न करना कलाकार के प्रति अन्याय होगा, इसमें सन्देह नहीं।